

Chapter बीस

महाराज पृथु के यज्ञस्थल में भगवान् विष्णु का प्राकट्य

मैत्रेय उवाच

भगवानपि वैकुण्ठः साकं मघवता विभुः ।
यज्ञैर्यज्ञपतिस्तुष्टो यज्ञभुक्तमभाषत ॥ १ ॥

शब्दार्थ

मैत्रेयः उवाच—मैत्रेय ऋषि ने आगे कहा; भगवान्—भगवान् विष्णु; अपि—भी; वैकुण्ठः—वैकुण्ठवासी; साकम्—के साथ; मघवता—राजा इन्द्र; विभुः—भगवान्; यज्ञैः—यज्ञों के द्वारा; यज्ञ-पतिः—समस्त यज्ञों का स्वामी; तुष्टः—प्रसन्न; यज्ञ-भुक्—यज्ञों का भोक्ता; तम्—राजा पृथु से; अभाषत—कहा ।

मैत्रेय ने आगे कहा : हे विदुर, महाराज पृथु द्वारा निन्यानवे अश्वमेध यज्ञों के सम्पन्न किये जाने से भगवान् विष्णु अत्यन्त प्रसन्न हुए और वे यज्ञस्थल में प्रकट हुए। उनके साथ राजा इन्द्र भी था। तब भगवान् विष्णु ने कहना प्रारम्भ किया।

श्रीभगवानुवाच

एष तेऽकार्षीद्भङ्गं हयमेधशतस्य ह ।
क्षमापयत आत्मानममुष्य क्षन्तुमर्हसि ॥ २ ॥

शब्दार्थ

श्री-भगवान् उवाच—भगवान् विष्णु ने कहा; एषः—यह राजा इन्द्र; ते—तुम्हारा; अकार्षीत्—किया; भङ्गम्—उत्पात; हय—अश्व; मेध—यज्ञ; शतस्य—एक सौवें का; ह—निश्चय ही; क्षमापयतः—क्षमाप्रार्थी; आत्मानम्—तुम से; अमुष्य—उसको; क्षन्तुम्—क्षमा करने के लिए; अर्हसि—तुम्हें चाहिए।

भगवान् विष्णु ने कहा : हे राजा पृथु, स्वर्ग के राजा इन्द्र ने तुम्हारे सौवें यज्ञ में विघ्न डाला है। अब वह मेरे साथ तुमसे क्षमा माँगने के लिए आया है, अतः उसे क्षमा कर दो।

तात्पर्य : इस श्लोक में *आत्मानम्* शब्द महत्त्वपूर्ण है। योगी तथा ज्ञानी एक दूसरे को (अथवा सामान्य पुरुष को भी) आत्मा कहकर सम्बोधित करते हैं, क्योंकि इन्द्रियातीत पुरुष जीवात्मा को शरीर कभी नहीं मानता। चूँकि आत्मा भगवान् का अंश होता है, अतः आत्मा तथा परम-आत्मा में गुणात्मक अन्तर नहीं होता। जैसाकि अगले श्लोक में बताया जाएगा, शरीर तो बाह्यावरण मात्र है, अतः सिद्ध इन्द्रियातीत पुरुष स्वयं में तथा अन्य में भेद नहीं मानता।

सुधियः साधवो लोके नरदेव नरोत्तमाः ।

नाभिद्रुहान्ति भूतेभ्यो यर्हि नात्मा कलेवरम् ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

सु-धियः—परम बुद्धिमान व्यक्ति; साधवः—शुभ करने के लिए उद्यत; लोके—इस जगत में; नर-देव—हे राजा; नर-उत्तमाः—मनुष्यों में श्रेष्ठ; न अभिद्रुहन्ति—द्रोह नहीं करते; भूतेभ्यः—अन्य जीवों से; यर्हि—क्योंकि; न—कभी नहीं; आत्मा—स्व या आत्मा; कलेवरम्—यह शरीर।

हे राजन्, जो व्यक्ति परम बुद्धिमान तथा दूसरों का शुभचिन्तक होता है, वह मनुष्यों में श्रेष्ठ समझा जाता है। सिद्ध पुरुष कभी दूसरों से बैर नहीं करता। जो अग्रगण्य बुद्धिमान हैं, वे यह भली-भाँति जानते हैं कि यह भौतिक शरीर आत्मा से भिन्न है।

तात्पर्य : सामान्य के जीवन में हम देखते हैं कि यदि कोई पागल आदमी किसी की हत्या कर देता है, तो उच्च न्यायालय के न्यायमूर्ति द्वारा उसे क्षमा दे दी जाती है। मुख्य भाव यह है कि जीवात्मा सदैव शुद्ध रहता है, क्योंकि वह तो भगवान् का अंश होता है। जब वह भौतिक शक्ति के चंगुल में पड़ जाता है, तो वह भौतिक प्रकृति के तीनों गुणों का शिकार बन जाता है। वह जो कुछ भी करता है, भौतिक प्रकृति के वश में होकर करता है। जैसाकि *भगवद्गीता* (५.१४) में कहा गया है—

न कर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः ।

न कर्मफलसंयोगं स्वभावस्तु प्रवर्तते ॥

“देह रूपी नगरी का स्वामी देहबद्ध जीवात्मा, कर्म अथवा कर्मफल को नहीं रचता और न किसी को कर्म में प्रवृत्त करता है। यह सब तो प्रकृति के गुणों द्वारा ही रचा जाता है।”

वास्तव में जीवात्मा या आत्मा कुछ नहीं करता, सब कुछ प्रकृति के गुणों के वशीभूत होकर ही होता है। जब मनुष्य रोगी होता है, तो रोग के लक्षण समस्त प्रकार की पीड़ा के कारण बन जाते हैं। जो दिव्यचेतना या कृष्णचेतना में उन्नत हैं, वे न तो आत्मा से ईर्ष्या करते हैं और न प्रकृति के गुणों के अधीन आत्मा के कार्यों से। उन्नत इन्द्रियातीत पुरुष *सुधियः* कहलाते हैं। *सुधी* के कई अर्थ हैं—बुद्धि, अत्यन्त उन्नत तथा भक्त। जो भक्त है और बुद्धि से अत्यन्त उन्नत भी, वह आत्मा या शरीर के विरुद्ध कोई कार्यवाही नहीं करता। यदि कोई त्रुटि होती है, तो वह क्षमा कर देता है। कहा गया है कि क्षमा आत्मज्ञानी सिद्ध पुरुषों का गुण है।

पुरुषा यदि मुह्यन्ति त्वाद्दशा देवमायया ।

श्रम एव परं जातो दीर्घया वृद्धसेवया ॥ ४ ॥

शब्दार्थ

पुरुषाः—लोग; यदि—यदि; मुह्यन्ति—मोहग्रस्त होते हैं; त्वाद्दृशाः—तुम्हारी तरह; देव—परमेश्वर की; मायया—माया से; श्रमः—परिश्रम; एव—निश्चय ही; परम्—एकमात्र; जातः—उत्पन्न; दीर्घया—दीर्घकाल तक; वृद्ध-सेवया—गुरुजनों की सेवा से।

यदि तुम जैसे पुरुष, जो पूर्व आचार्यों के आदेशों के अनुसार कार्य करने के कारण इतने उन्नत हैं, मेरी माया से मोहग्रस्त हो जाँय तो तुम्हारी समस्त सिद्धि को समय का अपव्यय मात्र ही समझा जाएगा।

तात्पर्य : इस श्लोक में वृद्ध-सेवया शब्द महत्त्वपूर्ण है। वृद्ध का अर्थ “बूढ़ा” और सेवया का अर्थ “सेवा द्वारा” है। पूर्णज्ञान तो आचार्यों या मुक्त जीवों से प्राप्त होता है। परम्परा-पद्धति के द्वारा प्रशिक्षित हुए बिना ज्ञान अर्जन में कोई भी परिपूर्ण नहीं हो सकता। पृथु महाराज को इसी प्रकार की शिक्षा प्राप्त थी, अतः उन्हें सामान्य व्यक्ति नहीं माना जा सकता था। सामान्य मनुष्य को केवल देहात्मबुद्धि होती है, जिससे वह प्रकृति के गुणों से सदैव मोहग्रस्त रहता है।

अतः कायमिमं विद्वानविद्याकामकर्मभिः ।

आरब्ध इति नैवास्मिन्प्रतिबुद्धोऽनुषज्जते ॥ ५ ॥

शब्दार्थ

अतः—अतएव; कायम्—शरीर; इमम्—यह; विद्वान्—ज्ञानी; अविद्या—अज्ञान से; काम—इच्छाएँ; कर्मभिः—कर्म से; आरब्धः—उत्पन्न; इति—इस प्रकार; न—कभी नहीं; एव—निश्चय ही; अस्मिन्—इस शरीर के प्रति; प्रतिबुद्धः—ज्ञानी; अनुषज्जते—आसक्त होता है।

जो लोग जीवन की देहात्मबुद्धि की अवधारणा से भली-भाँति परिचित हैं, जो यह जानते हैं कि यह शरीर मोह से उत्पन्न अज्ञान, आकांक्षाओं तथा कर्मों से रचित है, वे इस शरीर के प्रति कभी भी आसक्त नहीं होते।

तात्पर्य : जैसाकि पिछले श्लोक में कहा गया है, सुधीजन अपने को शरीर नहीं मानते। अज्ञान से उत्पन्न होने के कारण शरीर के दो प्रकार के कार्य हैं। जब हम देहात्मबुद्धि में सोचते हैं कि इन्द्रियतृप्ति हमारी सहायक होगी तो हम मोह में होते हैं। दूसरे प्रकार का मोह यह सोचना है कि उन आकांक्षाओं को पूरा करने के प्रयास से मनुष्य सुखी हो जाएगा, जो मोहग्रस्त शरीर से उत्पन्न होती हैं या उच्च लोकों को प्राप्त करने या विभिन्न प्रकार के वैदिक अनुष्ठानों को सम्पन्न करने से उत्पन्न हैं। यह मोह है। इसी प्रकार से राजनीतिक उत्थान के लिए किये गये भौतिक कर्म तथा विश्व के लोगों को सुखी बनाने के उद्देश्य से किये गये सामाजिक तथा मानवतापूर्ण कार्य भी मोहमय हैं, क्योंकि मुख्य सिद्धान्त तो

देहात्मबुद्धि है, जो मोहमय है। देहात्मबुद्धि में हम जो कुछ भी चाहते या करते हैं वह सब मोहमय हैं। दूसरे शब्दों में, भगवान् विष्णु ने महाराज पृथु को बताया कि यद्यपि यज्ञों के करने से सामान्य लोगों के लिए आदर्श उपस्थित होता है, किन्तु जहाँ तक उनके स्वात्म का प्रश्न है, उनकी कोई आवश्यकता नहीं थी। जैसाकि *भगवद्गीता* (२.४५) में पुष्टि की गई है—

त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन।

निर्द्वन्द्वो नित्यसत्त्वस्थो निर्योगक्षेम आत्मवान् ॥

“वेद मुख्य रूप से प्रकृति के तीनों गुणों का ही वर्णन करने वाले हैं। हे अर्जुन! तू इन गुणों का लंघन करके उनसे आगे निकल जा। सम्पूर्ण द्वन्द्वों और योगक्षेम की चिन्ता से मुक्त होकर आत्मपरायण बन।”

वेदों में वर्णित अनुष्ठान-विधान मुख्यतः प्रकृति के तीनों गुणों पर निर्भर करते हैं, अतः अर्जुन को सलाह दी गई कि वह वेद-कर्मों का उल्लंघन कर दे। अर्जुन को जिन कर्मों को करने के लिए कहा गया वे भक्ति के दिव्य कर्म थे।

असंसक्तः शरीरेऽस्मिन्नमुनोत्पादिते गृहे ।

अपत्ये द्रविणे वापि कः कुर्यान्ममतां बुधः ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

असंसक्तः—अनासक्त; शरीरे—शरीर में; अस्मिन्—इस; अमुना—ऐसी देहात्मबुद्धि से; उत्पादिते—उत्पन्न; गृहे—घर में; अपत्ये—सन्तान में; द्रविणे—सम्पत्ति में; वा—अथवा; अपि—भी; कः—कौन; कुर्यात्—करना चाहिए; ममताम्—आकर्षण; बुधः—विद्वान् पुरुष।

जो देहात्मबुद्धि के प्रति रंचमात्र भी आसक्त नहीं है, भला ऐसा अत्यन्त बुद्धिमान पुरुष किस प्रकार घर, सन्तान, सम्पत्ति तथा ऐसी ही अन्य शारीरिक बातों में देहात्मबुद्धि के द्वारा प्रभावित हो सकता है?

तात्पर्य : वैदिक अनुष्ठान भगवान् विष्णु को प्रसन्न करने के निमित्त होते हैं। किन्तु ऐसे कार्यों से वास्तव में भगवान् को प्रसन्न नहीं किया जा सकता, अपितु भगवान् की अनुमति से मनुष्य अपनी इन्द्रियों की तुष्टि करने का प्रयास करता है। दूसरे शब्दों में, जो भौतिकतावादी इन्द्रियतृप्ति में रुचि रखते हैं उन्हें वैदिक अनुष्ठान करने के बहाने अपनी इन्द्रियतृष्टि की अनुमति अथवा छूट प्रदान की जाती है। यही *त्रैगुण्यविषया वेदाः* कहलाता है। वैदिक कृत्य तो प्रकृति के तीनों गुणों पर निर्भर करते हैं। जो

लोग भौतिक स्थिति से ऊपर उठ चुके होते हैं, वे ऐसे वैदिक कृत्यों की तनिक भी परवाह नहीं करते। अपितु वे तो भगवान् की दिव्य प्रेमाभक्ति जैसे उच्चतर कार्यों में रुचि रखते हैं। ऐसी भक्ति *निस्त्रैगुण्य* कहलाती है। भगवान् की भक्ति का देहात्मबुद्धि से कोई सरोकार नहीं होता।

एकः शुद्धः स्वयंज्योतिर्निर्गुणोऽसौ गुणाश्रयः ।
सर्वगोऽनावृतः साक्षी निरात्मात्मात्मनः परः ॥ ७ ॥

शब्दार्थ

एकः—एक; शुद्धः—शुद्ध; स्वयम्—स्वयं; ज्योतिः—तेजोमय; निर्गुणः—भौतिक उपाधियों से रहित; असौ—वह; गुण-आश्रयः—उत्तम गुणों का आगार; सर्व-गः—सर्वत्र जाने में समर्थ; अनावृतः—अनाच्छादित; साक्षी—गवाह; निरात्मा—किसी अन्य आत्मा के; आत्म-आत्मनः—शरीर तथा मन को; परः—दिव्य।

आत्मा एक, शुद्ध, अभौतिक तथा स्वयं-तेजमय है। वह समस्त उत्तम गुणों का आगार एवं सर्व-व्यापक है। वह किसी भौतिक आवरण से रहित और समस्त कार्यों का साक्षी है। वह अन्य जीवात्माओं से सर्वथा भिन्न तथा समस्त देहधारियों से परे है।

तात्पर्य : पिछले श्लोक में दो महत्त्वपूर्ण शब्द आये हैं—*असंसक्तः* अर्थात् “बिना आसक्ति के” तथा *बुधः* अर्थात् “हर वस्तु को जानने वाला।” जानने वाले से तात्पर्य है कि वह न केवल अपनी स्वाभाविक स्थिति से पूर्ण रूप से परिचित हो, वरन् भगवान् की भी स्थिति को जाने। श्रीविश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर के अनुसार इस श्लोक में भगवान् विष्णु अपने अथवा परमात्मा के सम्बन्ध में वर्णन कर रहे हैं। परमात्मा सदैव देहधारी आत्मा से तथा भौतिक जगत से भी भिन्न हैं। अतः उन्हें *पर* कहा गया है। *पर* का अर्थ है, भगवान् एक है। भगवान् एक हैं, जबकि इस संसार में आये हुए बद्धजीव विभिन्न रूपों में रहते हैं। ये देवता, मनुष्य, पशु, वृक्ष, पक्षी, मधुमक्खी इत्यादि रूपों में रहते हैं। इस प्रकार जीवात्माएँ एक न होकर अनेक हैं। जैसे कि, वेदों में पुष्टि की गई है : *नित्यो नित्योनां चेतन तनानाम्* ऐसी जीवात्माएँ जो अनेक हैं और संसार में बँधी हुई हैं, शुद्ध नहीं होतीं। किन्तु भगवान् शुद्ध और अनासक्त होते हैं। भौतिक देह से ढके होने के कारण जीवात्माएँ आत्म-तेजोमय नहीं होतीं, जबकि परमात्मा स्वतेजोमय होता है। जीवात्माएं प्रकृति के गुणों से दूषित होने के कारण सगुण कहलाते हैं, जबकि परमात्मा भौतिक गुणों पर निर्भर न होने के कारण निर्गुण कहलाते हैं। प्रकृति के गुणों से दूषित होने के कारण जीवात्माएँ *गुणाश्रित* हैं, जबकि भगवान् *गुणाश्रय* हैं। बद्धजीव की दृष्टि भौतिक कल्मष से ढकी रहती है, अतः वह अपने कर्मों के कारण को तथा अपने विगत जीवन को

नहीं देख सकता। किन्तु भगवान् भौतिक देह से प्रच्छन्न न होने के कारण जीवात्मा के समस्त कार्यों के साक्षी हैं। जीवात्मा तथा परमात्मा दोनों ही आत्मा हैं। वे गुण में एक हैं, किन्तु वे कई प्रकार से भिन्न भी हैं विशेषतः छः ऐश्वर्यों के सम्बन्ध में जो भगवान् में पूर्णरूपेण विद्यमान हैं। पूर्णज्ञान का अर्थ होता है कि जीवात्मा अपनी तथा परमेश्वर की स्थिति को जाने। यही पूर्ण ज्ञान है।

य एवं सन्तमात्मानमात्मस्थं वेद पूरुषः ।

नाज्यते प्रकृतिस्थोऽपि तद्गुणैः स मयि स्थितः ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

यः—जो कोई; एवम्—इस प्रकार; सन्तम्—विद्यमान; आत्मानम्—आत्मा तथा परमात्मा; आत्म-स्थम्—अपने शरीर के भीतर स्थित; वेद—जानता है; पूरुषः—पुरुष; न—कभी नहीं; अज्यते—प्रभावित होता है; प्रकृति—भौतिक प्रकृति में; स्थः—स्थित; अपि—यद्यपि; तद्-गुणैः—प्रकृति के गुणों से; सः—ऐसा व्यक्ति; मयि—मुझमें; स्थितः—स्थित।

ऐसा व्यक्ति जो परमात्मा तथा आत्मा के पूर्णज्ञान को प्राप्त होता है, भौतिक प्रकृति में रहते हुए भी उसके गुणों से प्रभावित नहीं होता, क्योंकि वह सदैव मेरी दिव्य प्रेमाभक्ति में स्थित रहता है।

तात्पर्य : जब भगवान् इस भौतिक जगत में प्रकट होते हैं, तो वे प्रकृति के गुणों से प्रभावित नहीं होते हैं। इसीप्रकार जो भगवान् से सम्बद्ध हैं, वे भौतिक देह या भौतिक जगत में रहते हुए भी भौतिक गुणों से प्रभावित नहीं होते। इसका वर्णन *भगवद्गीता* (१४.२६) में बड़े ही सुन्दर ढंग से हुआ है :

मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते ।

स गुणान्समतीत्यैतान्ब्रह्माभूयाय कल्पते ॥

“जो पूर्ण रूप से मेरे अनन्य भक्तियोग में संलग्न है, वह अविलम्ब त्रिगुणमयी माया का उल्लंघन करके मुक्त हो जाता है।” इस सम्बन्ध में श्रील रूप गोस्वामी का कथन है कि यदि कोई मन, वचन तथा कर्म से सदैव भगवान् की सेवा में लगा रहता है, तो उसे इस भौतिक जगत में रहते हुए भी मुक्त मानना चाहिए।

यः स्वधर्मेण मां नित्यं निराशीः श्रद्धयान्वितः ।

भजते शनकैस्तस्य मनो राजन्प्रसीदति ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

यः—जो भी; स्व-धर्मेण—अपने वृत्तिपरक कार्यों के द्वारा; माम्—मुझको; नित्यम्—नियमित रूप से; निराशीः—बिना किसी उद्देश्य के; श्रद्धया—श्रद्धा तथा भक्ति से; अन्वितः—युक्त; भजते—पूजता है; शनकैः—धीरे-धीरे; तस्य—उसका; मनः—मन; राजन्—हे राजा पृथु; प्रसीदति—पूर्णतया तुष्ट हो जाता है।

भगवान् विष्णु ने आगे कहा : हे राजा पृथु, जब कोई अपना वृत्तिपरक कर्म करता हुआ, किसी भौतिक लाभ के उद्देश्य के बिना मेरी सेवा में लगा रहता है, तो वह अपने अन्तःकरण में उत्तरोत्तर संतुष्टि प्राप्त करता है।

तात्पर्य : विष्णु पुराण से भी इस श्लोक की पुष्टि होती है। वृत्तिपरक कार्य को वर्णाश्रम धर्म कहते हैं और यह भौतिक तथा आध्यात्मिक जीवन के चारों वर्णों और आश्रमों पर लागू होता है—यथा ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र तथा ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ तथा संन्यास। जो कोई वर्णाश्रम धर्म-पद्धति के अनुसार कर्म करता है और फल की इच्छा नहीं करता, वह क्रमशः सन्तुष्ट होता जाता है। जीवन का परम उद्देश्य वर्णाश्रम धर्म का पालन करते हुए भगवान् की भक्ति करना है। भगवद्गीता में इस प्रक्रम को कर्मयोग कहा गया है। दूसरे शब्दों में, हमें केवल भगवान् की तुष्टि तथा सेवा के लिए कर्म करना चाहिए। अन्यथा हम कर्मफलों के बंधन में उलझ जाँगें।

प्रत्येक व्यक्ति वर्णाश्रम धर्म में लगा हुआ है, किन्तु भौतिक व्यवसायों का उद्देश्य भौतिक लाभ नहीं होना चाहिए, अपितु हर एक को चाहिए कि अपने-अपने कर्मों के फल भगवान् को अर्पण करे। ब्राह्मण को विशेष रूप से अपना कर्म भौतिक लाभ की दृष्टि से न करके भगवान् को प्रसन्न करने के लिए करना चाहिए। क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र को भी इसी प्रकार से कर्म करना चाहिए। इस भौतिक जगत् में हर व्यक्ति भिन्न-भिन्न प्रकार के व्यवसाय में लगा है, किन्तु ऐसे कर्मों का उद्देश्य भगवान् को प्रसन्न रखना होना चाहिए। भक्ति अत्यन्त सरल है और कोई भी इसे अपना सकता है। जो जिस रूप में है, वैसे ही रहे; उसे अपने घर में परमेश्वर के अर्चा-विग्रह को स्थापित-भर करना होगा। यह विग्रह राधा-कृष्ण का हो या लक्ष्मी-नारायण का हो। (भगवान् के अनेक अन्य रूप भी हैं)। इस प्रकार ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र अपने सच्चे परिश्रम के बल पर अर्चा-विग्रह को पूज सकता है। चाहे जो भी वर्णाश्रम धर्म हो, मनुष्य को श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पूजन, समर्पण इत्यादि के द्वारा भक्ति करनी चाहिए। इस प्रकार मनुष्य अपने को भगवान् की भक्ति में बड़ी आसानी से लगा सकता है। जब भगवान् किसी की सेवा से प्रसन्न हो जाते हैं, तो जीवन का उद्देश्य पूरा हो जाता है।

परित्यक्तगुणः सम्यग्दर्शनो विशदाशयः ।
शान्ति मे समवस्थानं ब्रह्म कैवल्यमश्नुते ॥ १० ॥

शब्दार्थ

परित्यक्त-गुणः—जो गुणों से विरक्त है; सम्यक्—सम; दर्शनः—जिसकी दृष्टि; विशद—अकलुषित; आशयः—जिसका मन या हृदय; शान्तिम्—शान्ति; मे—मेरा; समवस्थानम्—समान पद; ब्रह्म—आत्मा; कैवल्यम्—भौतिक कल्मष से मुक्ति; अश्नुते—प्राप्त करता है।

जब हृदय समस्त भौतिक कल्मषों से शुद्ध हो जाता है, तो भक्त का मन विशद तथा पारदर्शी हो जाता है और वह वस्तुओं को समान रूप में देख सकता है। जीवन की इस अवस्था में शान्ति मिलती है और मनुष्य मेरे समान पद के सच्चिदानन्द-विग्रह रूप में स्थित हो जाता है।

तात्पर्य : मायावादी कैवल्य सम्बन्धी विचार वैष्णवों के विचारों से भिन्न है। मायावादी सोचता है कि ज्योंही कोई समस्त भौतिक कल्मष से मुक्त हो जाता है, वह परमेश्वर में तदाकार हो जाता है। वैष्णव चिन्तक की कैवल्य सम्बन्धी विचारधारा भिन्न है। वह अपनी तथा भगवान् दोनों की स्थितियों को समझता है। अकलुषित अवस्था में जीवात्मा अपने को परमात्मा का नित्य दास मानता है, जो ब्रह्म-साक्षात्कार कहलाता है। यह पद सरलता से प्राप्त हो जाता है। जैसाकि *भगवद्गीता* में कहा गया है, जब कोई भगवान् की दिव्य प्रेमाभक्ति में अनुरक्त रहता है, तो उसे तुरन्त ही दिव्य कैवल्य पद अथवा ब्रह्मपद प्राप्त होता है।

उदासीनमिवाध्यक्षं द्रव्यज्ञानक्रियात्मनाम् ।
कूटस्थमिममात्मानं यो वेदाप्नोति शोभनम् ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

उदासीनम्—उदासीन; इव—केवल; अध्यक्षम्—अधीक्षक; द्रव्य—भौतिक तत्त्वों; ज्ञान—ज्ञानेन्द्रियाँ; क्रिया—कर्मेन्द्रियाँ; आत्मनाम्—तथा मन का; कूट-स्थम्—स्थिर; इमम्—यह; आत्मानम्—आत्मा; यः—जो कोई; वेद—जानता है; आप्नोति—प्राप्त करता है; शोभनम्—कल्याण।

जो कोई भी यह जानता है कि पाँच तत्त्वों, कर्मेन्द्रियों, ज्ञानेन्द्रियों तथा मन से निर्मित यह शरीर केवल स्थिर आत्मा द्वारा संचालित होता है, वह भौतिक बन्धन से मुक्त होने योग्य है।

तात्पर्य : इस श्लोक में बताया गया है कि मनुष्य बन्धन से किस प्रकार मुक्त हो सकता है। पहली बात जो मनुष्य को जाननी चाहिए, वह यह है कि जीव शरीर से पृथक् है। जीव देही है और यह भौतिक शरीर देह कहलाता है। देह निरन्तर परिवर्तनशील है, किन्तु आत्मा (देही) स्थिर है; इसीलिए आत्मा को कूट-स्थम् कहा जाता है देह में जो परिवर्तन होते हैं, वे तीन गुणों की प्रतिक्रिया के

फलस्वरूप होते हैं जिसने आत्मा की स्थिर-स्थिति जान ली है, उसे सुख तथा दुख के रूप में प्रकृति के गुणों की अन्तक्रिया के आवागमन से विचलित नहीं होना चाहिए। *भगवद्गीता* में भी भगवान् ने कहा है कि शरीर पर तीनों गुणों की प्रतिक्रिया से सुख तथा दुख आते-जाते रहते हैं, अतः मनुष्य को इन बाह्य गतिविधियों से विचलित नहीं होना चाहिए। यद्यपि कभी-कभी मनुष्य इनमें फँस जाता है, किन्तु उसे इन्हें सहन करना सीखना चाहिए जीवात्मा को बाह्य शरीर के कर्म तथा फल के प्रति अनासक्त रहना चाहिए।

भगवद्गीता में भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं कि पाँच भौतिक तत्त्वों (क्षिति, जल, पावक, गगन तथा समीर) एवं सूक्ष्म तत्त्वों (मन, बुद्धि तथा अहंकार) से बना हुआ यह शरीर आत्मा से सर्वथा भिन्न है। अतः मनुष्य को इन आठ तत्त्वों की क्रिया-प्रतिक्रिया से विचलित नहीं होना चाहिए। इस अनासक्ति की अवस्था को प्राप्त करने की व्यावहारिक विधि यह है कि भक्ति-मय सेवा की जाये। जो व्यक्ति चौबीसों घंटे भक्ति में लगा रहता है, वही बाह्य शरीर के घात-प्रतिघातों से अनासक्त रह सकता है। जब मनुष्य किसी विशेष विचार में मग्न होता है, तो वह किसी अन्य बाह्य कर्म को न तो देखता है, न सुनता है भले ही वह उसकी उपस्थिति में घट रहा हो। इसी प्रकार जो भक्ति में पूर्ण रूप से निमग्न रहते हैं उन्हें अपने बाह्य शरीर की परवाह नहीं रहती। यह अवस्था समाधि कहलाती है। जो व्यक्ति समाधि में स्थित होता है, वह उच्चकोटि का योगी कहलाता है।

भिन्नस्य लिङ्गस्य गुणप्रवाहो

द्रव्यक्रियाकारकचेतनात्मनः ।

दृष्टासु सम्पत्सु विपत्सु सूरयो

न विक्रियन्ते मयि बद्धसौहृदाः ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

भिन्नस्य—भिन्न; लिङ्गस्य—शरीर का; गुण—तीनों गुणों का; प्रवाहः—निरन्तर परिवर्तन; द्रव्य—भौतिक तत्त्व; क्रिया—कर्म; कारक—देवता; चेतना—तथा मन; आत्मनः—से युक्त; दृष्टासु—अनुभव होने पर; सम्पत्सु—सुख; विपत्सु—दुख; सूरयः—ज्ञानी लोग; न—कभी नहीं; विक्रियन्ते—विचलित होते हैं; मयि—मुझ में; बद्ध-सौहृदाः—मित्रता में बँध कर।

भगवान् विष्णु ने राजा पृथु से कहा : हे राजन्, तीनों गुणों की अन्योन्य क्रिया से ही यह भौतिक जगत निरन्तर परिवर्तनशील है। यह शरीर पाँच तत्त्वों, इन्द्रियों, इन्द्रियों के नियामक देवताओं तथा आत्मा द्वारा विक्षुब्ध किये जाने वाले मन से मिल कर बना है। चूँकि आत्मा इन

स्थूल तथा सूक्ष्म तत्त्वों के इस मेल से सर्वथा भिन्न है, अतः मेरा भक्त जो मित्रता तथा प्रेम के द्वारा मुझसे दृढ़तापूर्वक बँधा है, यह भली भाँति जानते हुए, कभी भी भौतिक सुख तथा दुख से विचलित नहीं होता।

तात्पर्य : प्रश्न उठता है कि यदि जीवात्मा को शारीरिक संयोग के कार्यकलापों का अधीक्षण करना है, तो वह शरीर के कार्यों से किस प्रकार उदासीन रह सकता है ? इसका उत्तर इस प्रकार है—ये कार्यकलाप आत्मा के कार्यों से सर्वथा भिन्न हैं। यहाँ पर एक मोटा सा उदाहरण दिया जा सकता है। एक व्यापारी अपनी मोटरकार में बैठकर उसकी चाल का निरीक्षण करता रहता है और चालक को सलाह भी देता रहता है, वह जानता रहता है कि कितना पेट्रोल खर्च हो रहा है और वह अपनी कार के बारे में सबकुछ जानता है, किन्तु तो भी वह अपनी कार से भिन्न रहता है और अपने व्यापार के विषय में अधिक चिन्तित होता है। कार में चलते हुए भी वह अपने व्यापार तथा कार्यालय के विषय में सोचता रहता है भले ही वह कार में बैठा रहता है, किन्तु उसका कार से कोई सम्बन्ध नहीं रहता। जिस प्रकार व्यापारी सदैव अपने व्यापार के विचारों में मग्न रहता है, उसी प्रकार जीवात्मा भी भगवान् की सेवा करने के विचारों में मग्न रह सकता है। तभी वह भौतिक शरीर के कार्यकलापों से अपने को पृथक् रख सकता है। ऐसी निर्लिप्त अवस्था भक्त के लिए ही सम्भव है।

यहाँ पर *बद्ध सौहार्दः* शब्द का प्रयोग विशेष प्रयोजन से हुआ है। कर्मी, ज्ञानी तथा योगी जनों को भक्ति में नहीं बाँधा जा सकता। कर्मीजन शरीर के कार्यों में व्यस्त रहते हैं। उनके जीवन का लक्ष्य शरीर को ही सुविधा पहुँचाना होता है। ज्ञानी लोग दार्शनिक चिन्तन द्वारा बंधन से छूटना चाहते हैं, किन्तु उन्हें मुक्त पद प्राप्त नहीं होता। भगवान् के चरणकमलों की शरण ग्रहण न कर पाने से वे ब्रह्म-साक्षात्कार के उच्च पद से नीचे गिर जाते हैं। योगियों में भी देहात्मबुद्धि होती है—वे मानते हैं कि धारणा, आसन, प्राणायाम इत्यादि के द्वारा वे आध्यात्मिक लाभ प्राप्त कर सकते हैं किन्तु भक्त की स्थिति सदैव दिव्य होती है, क्योंकि भगवान् से उसका सम्बन्ध अत्यन्त घनिष्ठ होता है, अतः केवल भक्त ही शरीर के कर्मों तथा फलों से पृथक् रह कर अपने वास्तविक कर्म अर्थात् भगवान् की सेवा में संलग्न रह सकते हैं।

समः समानोत्तममध्यमाधमः

सुखे च दुःखे च जितेन्द्रियाशयः ।

मयोपक्रिप्ताखिललोकसंयुतो

विधत्स्व वीराखिललोकरक्षणम् ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

समः—समभाव; समान—सभी समान; उत्तम—श्रेष्ठ; मध्यम—बीच की स्थिति वाला; अधमः—निम्नस्तरीय; सुखे—सुख में; च—तथा; दुःखे—दुख में; च—भी; जित-इन्द्रिय—जिसने इन्द्रियों पर विजय प्राप्त कर ली है; आशयः—तथा मन; मया—मेरे द्वारा; उपक्रिप्त—व्यवस्थित; अखिल—सम्पूर्ण; लोक—लोगों द्वारा; संयुतः—साथ-साथ; विधत्स्व—प्रदान करो; वीर—हे वीर; अखिल—समस्त; लोक—नागरिकों को; रक्षणम्—सुरक्षा, आश्रय।

हे वीर राजा, स्वयं समभाव रखते हुए अपने से उत्तम, मध्यम तथा निम्न स्तर के लोगों पर समानता का व्यवहार करो, क्षणिक सुख या दुख से विचलित न हो। अपने मन तथा इन्द्रियों पर पूर्ण संयम रखो। मेरी व्यवस्था से तुम जिस किसी भी परिस्थिति में रखे जाओ, उस दिव्य स्थिति में रह कर राजा का कर्तव्य निबाहो, किन्तु तुम्हारा एकमात्र कर्तव्य अपने राज्य के नागरिकों को संरक्षण प्रदान करना है।

तात्पर्य : यहाँ पर साक्षात् भगवान् विष्णु से आदेश प्राप्त करने का उदाहरण मिलता है। मनुष्य को भगवान् विष्णु के आदेश का पालन करना होता है, चाहे वह प्रत्यक्ष रूप में उनसे प्राप्त हो या उनके प्रामाणिक प्रतिनिधि-गुरु के माध्यम से हो। अर्जुन ने कुरुक्षेत्र का युद्ध भगवान् कृष्ण के प्रत्यक्ष आदेश पर लड़ा। इसी प्रकार यहाँ पर पृथु महाराज को उनके कर्तव्यों के विषय में भगवान् विष्णु आदेश दे रहे हैं। हमें *भगवद्गीता* में बताये गये नियमों का दृढ़ता से पालन करना चाहिए। *व्यवसायात्मिका बुद्धिः*—प्रत्येक मनुष्य का कर्तव्य है कि वह भगवान् कृष्ण या उनके प्रामाणिक प्रतिनिधि से आदेश प्राप्त करे और निजी स्वार्थ से तटस्थ रहकर इन आदेशों को प्राणों से भी प्रिय माने। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर कहते हैं कि मनुष्य को इसकी तनिक भी परवाह नहीं करनी चाहिए कि वह मुक्त हो रहा है अथवा नहीं, उसे तो अपने गुरु से प्रत्यक्ष रूप से प्राप्त आदेशों का सहज भाव से पालन करते रहना चाहिए ऐसा करने से उसे सदैव मुक्त पद प्राप्त होता रहेगा। सामान्य व्यक्ति को जाति-प्रथा (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र) तथा आध्यात्मिक व्यवस्था (ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ तथा संन्यास) द्वारा निर्दिष्ट कर्तव्यों के अनुसार वर्णाश्रम धर्म के विधि-विधानों का पालन करना चाहिए। यदि कोई नियमित रूप से तथा दृढ़तापूर्वक ऐसा करता है, तो वह भगवान् विष्णु को प्रसन्न करता है।

भगवान् विष्णु ने पृथु महाराज को राजा के रूप में दैहिक कार्यों से अपने को विलग रखने और

सदैव भगवान् की सेवा में संलग्न रहकर मुक्त पद पर स्थित रहने का आदेश दिया था। पिछले श्लोक में आगत *बद्ध-सौहृदाः* की व्याख्या यहाँ की जा रही है। यदि मनुष्य अपने को देह के कार्यों से पृथक् रखता है, तो वह भगवान् के प्रत्यक्ष सम्पर्क में रह सकता है, अथवा उनके प्रामाणिक प्रतिनिधि अर्थात् गुरु से आदेश प्राप्त कर सकता है और उन आदेशों का निष्ठापूर्वक पालन कर सकता है। भगवान् हमें भक्ति करने में मदद करने के लिए आदेश देते हैं और इस प्रकार परम धाम वापस जाने में सहायक बनते हैं। गुरु के रूप में वे बाहर से हमें आदेश देते हैं। अतः मनुष्य को चाहिए कि गुरु को सामान्य मनुष्य न समझे *भागवत* (११.१७.२७) में भगवान् कहते हैं—*आचार्य मां विजानीयान्नावमन्येत कर्हिचित्*—गुरु को सामान्य मानव नहीं मानना चाहिए, क्योंकि वह भगवान् का प्रतिनिधि होता है। मनुष्य को चाहिए कि गुरु को भगवान् समझे और उससे न तो कभी द्वेष करे और न उसे सामान्य मनुष्य समझे। यदि हम गुरु के उपदेशों का पालन करें और भगवान् की भक्ति करें तो हम शारीरिक तथा भौतिक कर्मों के कल्मष से मुक्त रहकर जीवन को सफल बना सकते हैं।

श्रेयः प्रजापालनमेव राज्ञो

यत्साम्पराये सुकृतात्षष्ठमंशम् ।

हर्तान्यथा हृतपुण्यः प्रजाना-

मरक्षिता करहारोऽघमन्ति ॥ १४ ॥

शब्दार्थ

श्रेयः—शुभ; प्रजा-पालनम्—जनता पर शासन; एव—निश्चय ही; राज्ञः—राजा के लिए; यत्—क्योंकि; साम्पराये—अगले जन्म में; सु-कृतात्—पुण्यों से; षष्ठम् अंशम्—छठा भाग; हर्ता—संग्रह करने वाला; अन्यथा—नहीं तो; हृत-पुण्यः—पुण्य से वञ्चित; प्रजानाम्—प्रजा का; अरक्षिता—रक्षा न करने वाला; कर-हारः—कर वसूल करने वाला; अघम्—पाप; अन्ति—प्राप्त करता है या भोगता है।

राजा का निर्दिष्ट धर्म है कि वह राज्य के सारे के सारे नागरिकों को सुरक्षा प्रदान करे। ऐसा करने से राजा को अगले जन्म में प्रजा के पुण्यों का छठा भाग प्राप्त होता है। किन्तु जो राजा अथवा प्रशासक प्रजा से केवल कर वसूल करता है और नागरिकों को समुचित सुरक्षा प्रदान नहीं करता तो उसके पुण्य प्रजा छीन लेती है और सुरक्षा न प्रदान करने के बदले में उसे प्रजा के पापकर्मों का भागी होना पड़ता है।

तात्पर्य : यहाँ यह प्रश्न किया जा सकता है कि यदि सभी लोग मोक्ष प्राप्त करने के उद्देश्य से आध्यात्मिक कार्यों में लगे रहें और भौतिक जगत के कार्यों के प्रति उदासीन हो जाँय, तो फिर कार्य

किस प्रकार आगे बढ़े ? और यदि कार्यों को जैसे चलना चाहिए, वैसे आगे बढ़ना है, तो भला राज्य का प्रधान ऐसे कार्यों के प्रति उदासीन कैसे रह सकता है ? इस प्रश्न के उत्तर में यहाँ पर श्रेयः शब्द का प्रयोग हुआ है। समाज में कार्यों का विभाजन भगवान् ने आँख मूँदकर या आकस्मिक रूप से नहीं किया, जैसे कि मूर्ख लोग सोचते हैं। ब्राह्मण को उचित ढंग से अपना कर्म करना चाहिए, उसी प्रकार क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र को भी करना चाहिए। इससे प्रत्येक व्यक्ति जीवन की परम पूर्णता अर्थात् भवबंधन से मुक्ति प्राप्त कर सकता है। *भगवद्गीता* (१८.४५) में इसकी पुष्टि हुई है। *स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः*—अपना निर्दिष्ट कर्तव्य करके मनुष्य परम सिद्धि प्राप्त कर सकता है।

भगवान् विष्णु ने महाराज पृथु को यह उपदेश नहीं दिया कि वे राज्य और प्रजा के पालन के भार को त्याग कर मुक्ति के लिए हिमालय पर्वत चले जाँय। वे तो राजा का अपना कर्तव्य निबाहते हुए मुक्ति-लाभ कर सकते हैं। राजा अथवा राज्य के प्रधान का कर्तव्य होता है कि वह देखे कि प्रजा आत्म-मोक्ष के लिए अपना-अपना कार्य कर रही है। धर्म-निरपेक्ष राज्य में जो राजा या राज्य-अध्यक्ष, प्रजा के प्रति उदासीन होता है, उसके लिए यह आवश्यक नहीं। आधुनिक काल में सरकार प्रजा के कर्तव्यों के लिए अनेक विधि-विधान तो बनाती है, किन्तु वह यह नहीं देखती कि नागरिक आत्मज्ञान में प्रगति कर रहे हैं अथवा नहीं। यदि सरकार इस ओर उदासीन रहती है, तो लोग मनमानी करते हैं, उन्हें ईश-साक्षात्कार या आध्यात्मिक जीवन की कोई परवाह नहीं रहती और इस प्रकार वे पापकर्मों में उलझ जाते हैं।

प्रशासकीय प्रमुख को चाहिए कि वह सामान्य जनता से केवल कर एकत्र न करे और उनके कल्याण के प्रति निष्ठुर न बना रहे। राजा का वास्तविक कर्तव्य है कि वह यह देखे कि नागरिक क्रमशः पूर्ण रूप से कृष्णभावनाभावित हो जाँय। कृष्णभावनाभावित होने का अर्थ है समस्त पापकर्मों से मुक्ति। ज्योंही राज्य से पापकर्मों का पूर्णतः निर्मूलन हो जाता है, तो फिर युद्ध, बीमारी, दुर्भिक्ष या प्राकृतिक आपदाएँ नहीं आते। ऐसा महाराज युधिष्ठिर के शासन-काल में वास्तव में था। यदि कोई राजा या राज्याध्यक्ष प्रजा को कृष्णभक्त बनने के लिए प्रेरणा दे सकता है, तो वह प्रजा पर शासन करने के लिए योग्य है, अन्यथा उसे कर संग्रह करने का कोई अधिकार नहीं है यदि राजा प्रजा के आध्यात्मिक हितों को ध्यान में रखता है, तो उसे कर लगाने में कठिनाई नहीं होती। इस प्रकार इस जीवन में प्रजा तथा

राजा दोनों सुखी रहेंगे और राजा अपने अगले जन्म में प्रजा के पुण्यों का छठा अंश प्राप्त कर सकेगा। अन्यथा पापपूर्ण प्रजा पर कर लगा कर वह उनके पाप का ही भागी होगा।

यही सिद्धान्त माता-पिता तथा गुरुओं पर भी लागू किया जा सकता है। यदि माता-पिता कुत्ते-बिल्लियों के समान सन्तानें उत्पन्न करके उन्हें आने वाली मृत्यु से नहीं बचा सकते, तो वे अपनी पाशविक सन्तानों के कार्यों के जिम्मेदार होंगे। हाल ही में ऐसी सन्तानें हिप्पी बनने लगी हैं। इसी प्रकार यदि गुरु अपने शिष्यों को पापकर्मों से विरत नहीं कर सकता तो वह उनके कर्मों का भागी होता है। समाज के आजकल के नेताओं को प्रकृति के इन सूक्ष्म तत्त्वों का ज्ञान नहीं है। चूँकि नेताओं को अल्पज्ञान है और नागरिक भी सामान्य रूप से धूर्त तथा चोर हैं, अतः मानव समाज का कल्याण नहीं हो सकता। इस समय सारे संसार में राज्य तथा नागरिकों में किसी प्रकार का समन्वय न होने के कारण सदैव तनाव, युद्ध तथा चिन्ता बनी रहती है। जो ऐसी सामाजिक दशाओं का अपरिहार्य परिणाम है।

एवं द्विजाछ्याननुमतानुवृत्त-

धर्मप्रधानोऽन्यतमोऽवितास्याः ।

ह्रस्वेन कालेन गृहोपयातान्

द्रष्टासि सिद्धाननुरक्तलोकः ॥ १५ ॥

शब्दार्थ

एवम्—इस प्रकार; द्विज—ब्राह्मणों का; अख्य—अग्रणी द्वारा; अनुमत—स्वीकृत; अनुवृत्त—गुरु परम्परा से प्राप्त; धर्म—धार्मिक सिद्धान्त; प्रधानः—प्रमुख; अन्यतमः—अनासक्त; अविता—रक्षक; अस्याः—पृथ्वी का; ह्रस्वेन—लघु; कालेन—समय से; गृह—अपने घर; उपयातान्—स्वतः आया हुआ; द्रष्टासि—तुम देखोगे; सिद्धान्—सिद्ध पुरुष; अनुरक्त—लोकः—प्रजा का प्रिय।

भगवान् विष्णु ने आगे कहा : हे राजा पृथु, यदि तुम विद्वान् ब्राह्मणों से शिष्य परम्परा द्वारा प्राप्त आदेशों के अनुसार प्रजा का संरक्षण करते रहोगे और यदि तुम उनके द्वारा निर्दिष्ट धार्मिक नियमों का अनुसरण मनोरथों से अनासक्त रहकर करते रहोगे तो तुम्हारी सारी प्रजा सुखी रहेगी और तुमसे स्नेह रखेगी और तब तुम्हें शीघ्र ही सनकादि (सनक, सनातन, सनन्दन, सनत्कुमार) चारों कुमारों जैसे मुक्त पुरुषों के दर्शन हो सकेंगे।

तात्पर्य : भगवान् विष्णु ने राजा पृथु को सलाह दी कि हर व्यक्ति वर्णाश्रम धर्म के नियमों का पालन करे; तभी मनुष्य का इस संसार में, चाहे वह जिस स्थिति में रहे, मृत्यु के पश्चात्, मोक्ष निश्चित है किन्तु इस युग में वर्णाश्रम धर्म की पद्धति अस्त-व्यस्त हो चुकी है, अतः इन नियमों का कड़ाई से

पालन कर पाना कठिन है। जीवन में पूर्णता प्राप्त करने का एकमात्र उपाय कृष्णचेतना का विकास करना है, जिस प्रकार वर्णाश्रम धर्म का पालन विविध पुरुषों द्वारा विभिन्न पदों पर रहते हुए किया जाता है। उसी प्रकार कृष्ण-चेतना के सिद्धान्तों का पालन प्रत्येक व्यक्ति द्वारा संसार के प्रत्येक भाग में किया जा सकता है।

यहाँ पर उल्लेख करने का विशेष अभिप्राय है कि मनुष्य को पराशर तथा मनु जैसे *द्विजाग्र्यों* अर्थात् अग्रणी ब्राह्मणों का अनुसरण करना चाहिए। इन ऋषियों ने पहले ही आदेश दे रखे हैं कि *वर्णाश्रम* धर्म के नियमों का किस प्रकार पालन किया जाये इसी प्रकार सनातन गोस्वामी तथा रूप गोस्वामी ने भगवान् के शुद्ध भक्त बनने के नियम दे रखे हैं। इसीलिए यह अनिवार्य है कि परम्परागत आचार्यों के उपदेशों का अनुसरण किया जाय, जिन्होंने परम्परा से गुरु से शिष्य तक पहुँचे, ज्ञान को प्राप्त किया है इस प्रकार भौतिक जीवन-यापन करते हुए तथा अपना पद छोड़े बिना भौतिक कल्मष के बन्धन से छूटा जा सकता है। इसीलिए भगवान् चैतन्य महाप्रभु ने उपदेश दिया है कि मनुष्य को अपना घर बदलने की आवश्यकता नहीं है। उसे मात्र परम स्रोत (परम्परा) का श्रवण करके नियमों को जीवन में व्यवहृत करना होता है। इस प्रकार जीवन की परम सिद्धि—मुक्ति—को प्राप्त करके मनुष्य भगवान् के धाम को प्राप्त हो सकता है। दूसरे शब्दों में, जिस परिवर्तन की आवश्यकता है, वह शरीर में नहीं वरन् चेतना में होता है दुर्भाग्यवश इस युग में लोग शरीर के प्रति लगाव रखते हैं, आत्मा के प्रति नहीं। उन्होंने आत्मा नहीं, वरन् शरीर से सम्बद्ध अनेक *वादों* का आविष्कार कर लिया है।

प्रजातंत्र के इस युग में विधान के लिए अनेक सरकारी प्रतिनिधि मतदान करते हैं प्रतिदिन वे एक नया नियम निकालते हैं। किन्तु ये नियम अनुभवहीन बद्धजीवों द्वारा निर्मित कल्पना की उपज के अतिरिक्त और कुछ नहीं हैं, अतः उनसे मानव समाज को किसी प्रकार की राहत नहीं मिल सकती। प्राचीन काल में यद्यपि राजा निरंकुश होते थे, किन्तु वे ऋषियों-मुनियों द्वारा स्थापित नियमों का दृढ़ता से पालन करते थे। इससे देश के शासन में कोई त्रुटि नहीं आ पाती थी और सब कुछ ठीक रहता था। प्रजा पूर्णतः पवित्र होती थी और राजा वैध कर संग्रह करता था जिससे स्थिति सुखकर रहती थी। आजकल तथाकथित प्रशासकों का चुनाव ऐसे महत्वाकांक्षी व्यक्तियों में से होता है, जो केवल अपना स्वार्थ देखते हैं, उन्हें शास्त्रों का कोई ज्ञान नहीं होता। दूसरे शब्दों में, प्रशासनाधिकारी नितान्त मूर्ख तथा

धूर्त होते हैं और सामान्य जनता शूद्र होती है। मूर्खों, धूर्तों तथा शूद्रों का यह सम्मिलन कभी भी संसार में शान्ति और सम्पन्नता नहीं ला सकता। इसीलिए हमें समाज में समय-समय पर युद्ध, साम्प्रदायिक झगड़े तथा भाई-भाई में संघर्ष इत्यादि जैसे उपद्रव देखने को मिलते हैं। ऐसी परिस्थितियों में वे न तो मनुष्य को मुक्ति की ओर ले जा सकते हैं और न मनःशान्ति प्रदान कर सकते हैं *भगवद्गीता* में कहा गया है कि जो भी आडम्बरपूर्ण विचारों में जीता है और शास्त्रों से सम्बन्ध नहीं रखता वह कभी सफल नहीं होता और उसे न तो सुख मिल पाता है और न मृत्यु के पश्चात् मुक्ति।

वरं च मत्कञ्चन मानवेन्द्र

वृणीष्व तेऽहं गुणशीलयन्त्रितः ।

नाहं मखैर्वै सुलभस्तपोभि-

योगेन वा यत्समचित्तवर्ती ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

वरम्—आशीर्वाद; च—भी; मत्—मुझसे; कञ्चन—जो भी चाहो; मानव-इन्द्र—हे मनुष्यों के प्रमुख; वृणीष्व—माँगो; ते—तुम्हारा; अहम्—मैं; गुण-शील—उच्चगुणों तथा श्रेष्ठ आचरणों द्वारा; यन्त्रितः—मुग्ध होकर; न—नहीं; अहम्—मैं; मखैः—यज्ञों से; वै—निश्चय ही; सु-लभः—सरलता से प्राप्त; तपोभिः—तपस्या द्वारा; योगेन—योगाभ्यास के द्वारा; वा—अथवा; यत्—जिससे; सम-चित्त—समभाव वालों में; वर्ती—स्थित।

हे राजन्, मैं तुम्हारे उच्च गुणों तथा उत्तम आचरण से मुग्ध और प्रभावित हूँ; अतः तुम मुझसे मनचाहा वर माँग सकते हो। जो उत्तम गुणों तथा शील से युक्त नहीं है, वह मात्र यज्ञ, कठिन तपस्या अथवा योग के द्वारा मेरी कृपा प्राप्त नहीं कर सकता। किन्तु जो समस्त परिस्थितियों में समभाव बनाए रखता है, मैं उसके अन्तःकरण में सदैव सन्तुलित रहता हूँ।

तात्पर्य : भगवान् विष्णु महाराज पृथु के उत्तम चरित्र तथा आचरण से अत्यधिक प्रसन्न थे, अतः उन्हें वर माँगने के लिए कहा। भगवान् स्पष्ट कहते हैं कि उन्हें न तो महान् यज्ञों द्वारा, न ही तपस्या या योग साधना के द्वारा प्रसन्न किया जा सकता है। वे तो केवल उच्च चरित्र तथा आचरण द्वारा प्रसन्न होते हैं। किन्तु ये गुण तब तक विकसित नहीं होते, जब तक कोई भगवान् का शुद्ध भक्त न बन जाए। जो कोई भी भगवान् के प्रति शुद्ध अविचल भक्ति करता है उसमें आत्मा के रूप में ये उत्तम गुण विकसित हो जाते हैं। आत्मा भगवान् का अंश होने से उनके समस्त उत्तम गुणों से युक्त रहता है। किन्तु जब आत्मा प्रकृति के गुणों से दूषित हो जाता है, तो भौतिक गुणों के अनुसार मनुष्य अच्छा या बुरा माना

जाता है। किन्तु जब मनुष्य समस्त भौतिक गुणों को पार कर जाता है, तो सारे उत्तम गुण प्रकट होते हैं। भक्तों के ऐसे छब्बीस गुण इस प्रकार हैं—(१) प्रत्येक के प्रति दयालु, (२) किसी से भी न झगड़ना, (३) परम सत्य में स्थिर रहना, (४) सबों के प्रति समता, (५) दोषहीन, (६) दानशील, (७) मृदु, (८) स्वच्छ, (९) सरल, (१०) परोपकारी, (११) शान्त, (१२) कृष्ण में पूर्ण रूप से आसक्त, (१३) अहंकारविहीन, (१४) विनयसम्पन्न, (१५) स्थिर, (१६) आत्म-संयमी (१७) मिताहारी, (१८) विवेकी, (१९) पूज्य, (२०) विनीत, (२१) गम्भीर, (२२) दयालु, (२३) मैत्रीयुक्त, (२४) कवित्वमय, (२५) पटु तथा (२६) मौन। भगवान् जीवात्माओं में इन दिव्य गुणों के विकसित होने से प्रसन्न होते हैं, कृत्रिम रूप से यज्ञ करने तथा योग साधन से नहीं। दूसरे शब्दों में, जब तक कोई शुद्ध भक्त बनने के लायक नहीं होता, उसे भवबंधन से मुक्ति पाने की आशा नहीं करनी चाहिए।

मैत्रेय उवाच

स इत्थं लोकगुरुणा विष्वक्सेनेन विश्वजित् ।

अनुशासित आदेशं शिरसा जगृहे हरेः ॥ १७ ॥

शब्दार्थ

मैत्रेयः उवाच—मैत्रेय ने कहा; सः—उसने; इत्थम्—इस प्रकार; लोक-गुरुणा—समस्त लोकों के परम स्वामी द्वारा; विष्वक्सेनेन—भगवान् द्वारा; विश्व-जित्—विश्व पर विजय करने वाला (महाराज पृथु); अनुशासितः—आदेश दिया गया; आदेशम्—आदेश, आज्ञा; शिरसा—सिर से; जगृहे—स्वीकार किया; हरेः—भगवान् का ।

महान् संतं मैत्रेय ने आगे कहा : हे विदुर, इस प्रकार समस्त विश्व के जीतने वाले महाराज पृथु ने भगवान् के आदेशों को शिरोधार्य किया ।

तात्पर्य : मनुष्य को चाहिए कि भगवान् के चरणकमलों में नतमस्तक होकर उनके आदेशों को स्वीकार करे। इसका अर्थ यह हुआ कि भगवान् द्वारा कही गई हर बात को उसी रूप में अत्यन्त ध्यानपूर्वक तथा सम्मान के साथ स्वीकार किया जाए। भगवान् के वचनों में किसी प्रकार का संशोधन या परिवर्धन हमारा कार्य नहीं, जैसाकि आजकल के अनेक तथाकथित विद्वान् तथा स्वामी जो *भगवद्गीता* के वचनों पर अपनी टीका करते हैं वे ऐसा करने लगे हैं। यहाँ पर महाराज पृथु द्वारा उदाहरण प्रस्तुत किया गया है कि किस प्रकार भगवान् के आदेश को स्वीकार किया जाये। परम्परा-प्रणाली से ज्ञान प्राप्त करने की यही विधि है।

स्पर्शान्तं पादयोः प्रेम्णा व्रीडितं स्वेन कर्मणा ।
शतक्रतुं परिष्वज्य विद्वेषं विससर्ज ह ॥ १८ ॥

शब्दार्थ

स्पर्शान्तम्—स्पर्श करते हुए; पादयोः—पाँवों का; प्रेम्णा—हर्षातिरेकवश; व्रीडितम्—लज्जित; स्वेन—अपने ही; कर्मणा—कार्यों से; शत-क्रतुम्—राजा इन्द्र को; परिष्वज्य—हृदय से लगाकर; विद्वेषम्—ईर्ष्या; विससर्ज—त्याग दिया; ह—निस्सन्देह ।

राजा इन्द्र जो सामने खड़ा था, अपने कार्यों से अत्यन्त लज्जित हुआ और राजा पृथु के चरणकमलों का स्पर्श पाने के लिए उनके समक्ष गिर पड़ा। किन्तु पृथु महाराज ने अत्यन्त हर्षातिरेक में उसे तुरन्त हृदय से लगा लिया और यज्ञ के अश्व को चुराने के कारण उत्पन्न समस्त ईर्ष्या त्याग दी।

तात्पर्य : ऐसी अनेक घटनाएँ हैं, जब मनुष्य किसी वैष्णव के चरणकमलों के प्रति अपराध कर देता है और बाद में पछताता है। यहाँ पर भी हम देखते हैं कि यद्यपि स्वर्ग का राजा इन्द्र इतना शक्तिशाली था कि भगवान् विष्णु के साथ में था, किन्तु उसने अपने को महाराज पृथु के यज्ञ के घोड़े को चुराने के लिए अपराधी अनुभव किया। वैष्णव के चरणकमलों पर अपराध करने वाले को भगवान् कभी क्षमा नहीं करते। इसके अनेक दृष्टान्त मिलते हैं। परम योगी तथा महामुनि दुर्वासा ने अम्बरीष महाराज का अपमान किया, तो उन्हें अम्बरीष महाराज के चरणकमलों पर गिरना पड़ा।

इन्द्र ने राजा पृथु के चरणकमलों पर गिरने का विचार किया, किन्तु राजा इतना उदार वैष्णव था कि महाराज इन्द्र को अपने चरणों पर गिरने नहीं देना चाहता था, अपितु उसने तुरन्त उन्हें उठाकर हृदय से लगा लिया। वे दोनों ही एक दूसरे पर क्रुद्ध थे और ईर्ष्यालु थे; किन्तु दोनों ही वैष्णव थे, अतः उन्हें अपनी ईर्ष्या के कारण को समंजित करना पड़ा। वैष्णवों के मध्य सहयोगी आचरण का यह सर्वोत्तम उदाहरण है। किन्तु आजकल लोग वैष्णव न होने के कारण आपस में निरन्तर झगड़ते रहते हैं और मानव जीवन का लक्ष्य पूरा किये बिना मृत्यु प्राप्त करते हैं। संसार में कृष्णभावनामृत आन्दोलन को प्रसारित करने की नितान्त आवश्यकता है, क्योंकि भले ही लोग कभी-कभी एक दूसरे पर रुष्ट तथा मनोमालिन्यपूर्ण रहें, किन्तु कृष्णभावनाभावित होने से ऐसी प्रतियोगिता, स्पर्धा तथा ईर्ष्या को बिना कठिनाई के समंजित किया जा सकता है।

भगवानथ विश्वात्मा पृथुनोपहृताहृणः ।

समुज्जिहानया भक्त्या गृहीतचरणाम्बुजः ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

भगवान्—भगवान्; अथ—तदनन्तर; विश्व-आत्मा—परमात्मा; पृथुना—राजा पृथु द्वारा; उपहृत—प्रदत्त; अर्हणः—पूजा की सारी सामग्री; समुज्जिहानया—क्रमशः वर्द्धित; भक्त्या—जिसकी भक्ति; गृहीत—पकड़ा हुआ; चरण-अम्बुजः—चरणकमल ।

राजा पृथु ने अपने ऊपर कृपालु भगवान् के चरण-कमलों की प्रभूत पूजा की। इस प्रकार भगवान् के चरणकमलों की आराधना करते हुए भक्ति में महाराज पृथु का आनन्द क्रमशः बढ़ता गया।

तात्पर्य : जब भक्त के शरीर में विविध प्रकार का भावातिरेक प्रकट हो तो समझना चाहिए कि भक्ति पूर्णता को प्राप्त हो चुकी है। दिव्य आनन्द के कई प्रकार हैं, यथा रोना, हँसना, गिरना, प्रमत्त के सदृश चिल्लाना इत्यादि ये सारे लक्षण कभी-कभी भक्त के शरीर में दिखते हैं। ये अष्ट-सात्त्विक विकार कहलाते हैं, जिनका अर्थ है आठ प्रकार के दिव्य रूपान्तर इनका अनुकरण नहीं किया जा सकता, किन्तु जब भक्त सचमुच सिद्ध हो जाता है, तो ये सारे लक्षण उसके शरीर में दृष्टिगोचर होने लगते हैं। भगवान् तो भक्तवत्सल हैं, अर्थात् वे अपने विशुद्ध भक्त के प्रति स्नेह रखते हैं। अतः भक्त तथा भगवान् के बीच जो दिव्य आनन्दमय आदान-प्रदान होता है, वह इस जगत के कार्य-कलापों की तरह नहीं होता।

प्रस्थानाभिमुखोऽप्येनमनुग्रहविलम्बितः ।

पश्यन्पद्मपलाशाक्षो न प्रतस्थे सुहृत्सताम् ॥ २० ॥

शब्दार्थ

प्रस्थान—जाने के लिए; अभिमुखः—उद्यत; अपि—यद्यपि; एनम्—उसको (पृथु को); अनुग्रह—दया से; विलम्बितः—रोक लिया गया; पश्यन्—देखते हुए; पद्म-पलाश-अक्षः—जिसके नेत्र कमल की पंखुड़ियों के समान हैं; न—नहीं; प्रतस्थे—प्रस्थान किया; सुहृत्—शुभेच्छु; सताम्—भक्तों का।

भगवान् प्रस्थान करने ही वाले थे, किन्तु वे राजा पृथु के व्यवहार के प्रति इतने वत्सल हो चले थे कि वे गये नहीं। अपने कमलनेत्रों से महाराज पृथु के आचरण को देखकर वे रुक गये, क्योंकि वे सदा ही अपने भक्तों के हितैषी हैं।

तात्पर्य : यहाँ पर सुहृत्सताम् शब्द अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। भगवान् अपने भक्त पर सदैव वत्सल रहते हैं और सदैव उसके हित के लिए सोचते रहते हैं। यह पक्षपात नहीं है। जैसाकि भगवद्गीता में कहा गया है, भगवान् सबों के लिए समान हैं (समोऽहं सर्वभूतेषु), किन्तु जो उनकी सेवा करता है वे

उसके प्रति विशेष वत्सल रहते हैं किसी दूसरे स्थान पर, भगवान् कहते हैं कि भक्त सदैव उनके हृदय में वास करता है और वे भी सदैव भक्त के हृदय में वास करते हैं।

अपने विशुद्ध भक्त के प्रति भगवान् की यह वत्सलता न तो अस्वाभाविक है और न किसी प्रकार का पक्षपात है। उदाहरणार्थ, पिता अपने अनेक पुत्रों के होते हुए भी कभी-कभी उस एक पुत्र के प्रति विशेष स्नेह रखता है, जो उसके प्रति झुकाव रखता है। इसकी व्याख्या भगवद्गीता (१०.१०) में की गई है :

तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम् ।

ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते ॥

जो लोग प्रेम तथा स्नेह से भगवान् की भक्ति में निरन्तर लगे रहते हैं, वे प्रत्येक हृदय में स्थित परमात्मा रूप भगवान् के प्रत्यक्ष सम्पर्क में रहते हैं। भगवान् भक्त से दूर नहीं हैं। वे प्रत्येक हृदय में विद्यमान हैं, किन्तु केवल भक्त ही उनके अस्तित्व को जान सकता है और प्रत्यक्ष सम्पर्क में होने से वह किसी भी क्षण भगवान् से आदेश प्राप्त करता है। अतः भक्त द्वारा न तो त्रुटि करने का कोई अवसर आता है और न भगवान् की ओर से अपने शुद्ध भक्तों का कोई पक्षपात किया जाता है।

स आदिराजो रचिताञ्जलिर्हरिं

विलोकितुं नाशकदश्रुलोचनः ।

न किञ्चनोवाच स बाष्पविकलवो

हृदोपगुह्यामुमधादवस्थितः ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

सः—वह; आदि-राजः—आदि राजा; रचित-अञ्जलिः—हाथ जोड़े हुए; हरिम्—भगवान् को; विलोकितुम्—देखने के लिए; न—नहीं; अशकत्—समर्थ था; अश्रु-लोचनः—अश्रुपूरित नेत्र; न—नहीं; किञ्चन—कुछ भी; उवाच—कहा; सः—उसने; बाष्प-विकलवः—वाणी रुद्ध होने से, गद्गद् कण्ठ से; हृदा—अपने हृदय से; उपगुह्य—आलिंगन करके; अमुम्—भगवान् को; अधात्—रहता रहा; अवस्थितः—खड़ा।

नेत्रों में अश्रु भर आने तथा वाणी रुद्ध हो जाने आदि से राजा महाराज पृथु न तो ठीक से भगवान् को देख सके और न भगवान् को सम्बोधित करके कुछ बोल सके। उन्होंने केवल अपने हृदय के भीतर भगवान् का आलिंगन किया और हाथ जोड़े हुए उसी तरह खड़े रहे।

तात्पर्य : जिस प्रकार ब्रह्म-संहिता में कृष्ण को आदि-पुरुष कहा गया है उसी प्रकार इस श्लोक में राजा पृथु को, भगवान् का शक्त्यावेश अवतार होने के कारण, आदि राजः कहा गया है। महान् भक्त

होने के साथ ही वे परम वीर थे जिसने अपने राज्य के समस्त दुष्टों पर विजय पा ली थी। वे लड़ने में स्वर्ग के राजा इन्द्र के समान पराक्रमी थे। उन्होंने अपनी प्रजा को सुरक्षा प्रदान की और उन्हें पुण्यकार्यों तथा भगवान् की भक्ति में लगाये रखा। उन्होंने सभी प्रकार की विपत्तियों में प्रजा को शरण प्रदान किये बिना एक पाई भी कर के रूप में वसूल नहीं की। जीवन की सबसे बड़ी विपत्ति है ईश्वरविहीन होना और इस प्रकार पापी बन जाना। यदि राज्य का प्रधान या राजा प्रजा को अवैध मैथुन, मांसाहार, मादक द्रव्य-सेवन तथा द्यूतक्रीड़ा की छूट देता है, तो राजा उसके लिए उत्तरदायी होता है और उसे प्रजा के पापों का फल भोगना पड़ता है, क्योंकि वह प्रजा से वृथा कर वसूल करता है। शासक के लिए ये इतने सारे नियम हैं और चूँकि राजा पृथु ने इन सभी नियमों का पालन किया, इसलिए उन्हें *आदि राजः* कहा गया है।

महाराज पृथु जैसा उत्तरदायी राजा प्रथम कोटि का शुद्ध भक्त भी हो सकता है। राजा पृथु के आचरण में हम स्पष्ट देखते हैं कि किस प्रकार वे भीतर तथा बाहर से शुद्ध भक्ति में भावविभोर हो गए थे।

आज ही हमने बम्बई के समाचार पत्र में पढ़ा है कि सरकार मद्य-निषेध कानून को वापस लेने जा रही है। गांधीजी के असहयोग आन्दोलन के समय से ही बम्बई में मद्यपान की छूट नहीं थी। किन्तु दुर्भाग्यवश नागरिक इतने चालाक हैं कि उन्होंने अवैध शराब बनाना बढ़ा दिया है और शराब दुकानों में खुले रूप में न बिक कर, शौचालयों तथा अन्य ऐसे ही कुत्सित स्थानों में बिकती है। इस प्रकार की तस्करी को न रोक पाने के कारण सरकार ने सस्ते मूल्य पर शराब की पूर्ति करने का निश्चय किया है, जिससे लोग शौचालयों की अपेक्षा सरकार से शराब खरीदें। सरकार नागरिकों के पापपूर्ण जीवन को बदल पाने में असफल रही है, अतः राजकोष को भरने के लिए और कर की क्षति न हो, इस उद्देश्य से सरकार ने जनता के लिए कम मूल्य पर शराब बनाने का निश्चय किया है।

इस प्रकार की सरकार पापमय जीवन के फलों को अर्थात् युद्ध, अकाल, भूकम्प तथा अन्य विपदाओं को रोक नहीं सकती। प्रकृति का नियम है कि जब ईश्वर के नियम में त्रुटियाँ होने लगती हैं (जिसे *भगवद्गीता* में *धर्मस्य ग्लानिः* कहा गया है), तो उस समय युद्ध के अचानक छिड़ जाने के रूप में कठोर दण्ड मिलता है। हमने हाल ही में भारत तथा पाकिस्तान के बीच छिड़े युद्ध को अपनी आँखों

देखा है। एक पखवाड़े के भीतर ही जन तथा धन की अपार क्षति हुई और सम्पूर्ण संसार में हलचल मच गई थी। पापमय जीवन के यही परिणाम हैं। कृष्णभावनामृत आन्दोलन का उद्देश्य लोगों को शुद्ध और पूर्ण बनाना है। यदि हम कृष्णचेतना के फलस्वरूप आंशिक रूप में भी शुद्ध हो सकें, जैसाकि *भागवत* में कहा गया है (*नष्टप्रायेष्वभद्रेषु*) तो कामवासना, लालच, भव रोग कम हो जाँय। यह *श्रीमद्भागवत* अथवा कृष्णचेतना के सन्देश को प्रसारित करने से ही सम्भव है। बड़े-बड़े औद्योगिक और व्यापारिक प्रतिष्ठानों ने सुरक्षा कोष में हजारों रुपये दिये हैं, जो बारूद के रूप में धन को भस्म कर रहा है, किन्तु इसे दुर्भाग्य ही कहा जाएगा कि यदि उनसे कृष्णभावनामृत आन्दोलन की प्रगति के लिए धन माँगा जाता है, तो वे आनाकानी करते हैं। ऐसी परिस्थितियों में संसार में समय-समय पर उथल-पुथल तथा युद्ध आरम्भ होते रहेंगे, जो कृष्णभावनाभावित न होने का परिणाम है।

अथावमृज्याश्रुकला विलोकयन्-

नतृप्तदृग्गोचरमाह पूरुषम् ।

पदा स्पृशन्तं क्षितिमंस उन्नते

विन्यस्तहस्ताग्रमुरङ्गविद्विषः ॥ २२ ॥

शब्दार्थ

अथ—तत्पश्चात्; अवमृज्य—पोंछ कर; अश्रु-कला:—अपने नेत्रों के अश्रु; विलोकयन्—देखते हुए; अतृप्त—असंतुष्ट; दृक्-गोचरम्—आँखों को दिखाई पड़ने वाला; आह—कहा; पूरुषम्—भगवान् को; पदा—अपने चरणकमलों से; स्पृशन्तम्—स्पर्श करते हुए; क्षितिम्—पृथ्वी; अंस—कंधे पर; उन्नते—उठा हुआ; विन्यस्त—बिखरा; हस्त—हाथ का; अग्रम्—अगला भाग; उरङ्ग-विद्विषः—सर्पों के शत्रु, गरुड़ का।

भगवान् अपने चरण-कमलों से पृथ्वी को स्पर्श करते हुए खड़े थे और उनके हाथ का अगला भाग सर्पों के शत्रु गरुड़ के उन्नत कंधे पर था। महाराज पृथु नेत्रों से अश्रु पोंछते हुए भगवान् को देखने का प्रयास कर रहे थे, किन्तु ऐसा प्रतीत हो रहा था मानो राजा उन्हें देखकर अघा नहीं रहा था। इस प्रकार राजा ने निम्नलिखित स्तुतियाँ अर्पित कीं।

तात्पर्य : इस श्लोक में उल्लेखनीय बात यह है कि भगवान् पृथ्वी के ऊपर इसका स्पर्श-सा करते हुए खड़े थे। ब्रह्मलोक से लेकर स्वर्गलोक तक के उच्चलोकों के वासी आध्यात्मिक जीवन में इतने आगे बढ़े हुए हैं कि जब भी वे इस लोक में या अन्य अधोलोकों में आते हैं, तो वे भारहीनता अपनाए रहते हैं जिसका अर्थ है कि वे पृथ्वी का स्पर्श किये बिना खड़े रह सकते हैं। भगवान् विष्णु पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् हैं, किन्तु इस ब्रह्माण्ड के किसी एक लोक में निवास करने के कारण वे इसके

किसी देवता की भाँति आचरण करते हैं। जब वे पृथु महाराज के समक्ष प्रथम बार प्रकट हुए तो वे पृथ्वी का स्पर्श नहीं कर रहे थे, किन्तु जब वे महाराज पृथु के आचरण से सन्तुष्ट हो गये तो वैकुण्ठवासी नारायण की भाँति व्यवहार करने लगे। पृथु के स्नेह में आकर उन्होंने पृथ्वी का स्पर्श किया, किन्तु उन्होंने अपने हाथ के अगले भाग को गरुड़ के उन्नत कंधे पर रखा जिससे वे गिर न पड़े, क्योंकि भगवान् को पृथ्वी पर खड़े रहने का अभ्यास नहीं है। ये सभी महाराज पृथु के प्रति उनकी वत्सलता के लक्षण हैं। अपने को परम भाग्यशाली मानकर पृथु महाराज हर्षातिरेक के कारण भगवान् को ठीक से देख नहीं पाये, फिर भी उन्होंने रुद्ध वाणी से उनकी स्तुति करनी प्रारम्भ की।

पृथुरुवाच

वरान्विभो त्वद्वरदेश्वराद्बुधः

कथं वृणीते गुणविक्रियात्मनाम् ।

ये नारकाणामपि सन्ति देहिनां

तानीश कैवल्यपते वृणे न च ॥ २३ ॥

शब्दार्थ

पृथुः उवाच—पृथु महाराज ने कहा; वरान्—आशीर्वाद, वर; विभो—हे परमेश्वर; त्वत्—तुमसे; वर-द-ईश्वरात्—भगवान् से, जो वर देने वालों में अग्रणी हैं; बुधः—बुद्धिमान पुरुष; कथम्—कैसे; वृणीते—याचना कर सकता है; गुण-विक्रिया—प्रकृति के गुणों से मोहग्रस्त; आत्मनाम्—जीवात्माओं का; ये—जो; नारकाणाम्—नरकवासी जीवात्माओं का; अपि—भी; सन्ति—हैं; देहिनाम्—देहधारियों का; तान्—वे सब; ईश—हे ईश्वर; कैवल्य-पते—तादात्म्य के दाता; वृणे—याचना करता हूँ; न—नहीं; च—भी।

हे प्रभो, आप वर देने वाले देवों में सर्वश्रेष्ठ हैं। अतः कोई भी बुद्धिमान व्यक्ति आपसे ऐसे वर क्यों माँगेगा जो प्रकृति के गुणों से मोहग्रस्त जीवात्माओं के निमित्त हैं? ऐसे वरदान तो नरक में वास करने वाली जीवात्माओं को भी अपने जीवन-काल में स्वतः प्राप्त होते रहते हैं। हे भगवन्, आप निश्चित ही अपने साथ तादात्म्य प्रदान कर सकते हैं, किन्तु मैं ऐसा वर नहीं चाहता।

तात्पर्य : मनुष्य की याचना के अनुसार भिन्न-भिन्न प्रकार के वर होते हैं। कर्मियों के लिए श्रेष्ठ वर उच्चलोकों की प्राप्ति है, जहाँ जीवन-काल दीर्घ है और जीवन तथा सुख का स्तर अधिक ऊँचा है। अन्य लोग, यथा ज्ञानी तथा योगी भगवान् में तादात्म्य के इच्छुक रहते हैं। यह कैवल्य है। इसीलिए भगवान् को कैवल्यपति कहा गया है। किन्तु भक्तों को भगवान् से एक भिन्न प्रकार का वर प्राप्त होता है। वे न ही स्वर्ग की चिन्ता करते हैं और न ही भगवान् में तादात्म्य चाहते हैं। भक्तों के अनुसार

कैवल्य और भगवान् में तादात्म्य तथा नरक में कोई अन्तर नहीं होता। इस प्रकार जगत का प्रत्येक प्राणी नारक कहलाता है, क्योंकि यह संसार स्वयं नारकीय होता है। महाराज पृथु ने कहा कि उन्हें न तो कर्मियों द्वारा अभीप्सित वर की कामना है, न ज्ञानियों तथा योगियों द्वारा अभीप्सित वरों की। भगवान् चैतन्य के परम भक्त श्रील प्रबोधानन्द सरस्वती प्रभु ने कहा है कि कैवल्य नारकीय जीवन से श्रेष्ठ नहीं होता और जहाँ तक स्वर्गलोक के आनन्दों की बात है, वे मायाजाल के अतिरिक्त और कुछ नहीं हैं। भक्त इनकी इच्छा नहीं रखते। भक्तों को तो श्रीब्रह्मा या श्रीशिव द्वारा ग्रहण किये गये पदों की भी कोई परवाह नहीं रहती, न ही वे भगवान् विष्णु की समता करना चाहते हैं। भगवान् के शुद्ध भक्त होने के नाते पृथु महाराज ने अपनी स्थिति स्पष्ट कर दी।

न कामये नाथ तदप्यहं क्वचिन्-

न यत्र युष्मच्चरणाम्बुजासवः ।

महत्तमान्तर्हृदयान्मुखच्युतो

विधत्स्व कर्णायुतमेष मे वरः ॥ २४ ॥

शब्दार्थ

न—नहीं; कामये—इच्छा करता हूँ; नाथ—हे स्वामी; तत्—वह; अपि—भी; अहम्—मैं; क्वचित्—किसी भी समय; न—नहीं; यत्र—जहाँ; युष्मत्—तुम्हारे; चरण-अम्बुज—चरणकमलों का; आसवः—अमृत; महत्-तम—सबसे बड़े भक्तों के; अन्तः-हृदयात्—अन्तस्तल से; मुख—मुखों से; च्युतः—निकली; विधत्स्व—प्रदान कीजिये; कर्ण—कान; अयुतम्—दस लाख; एषः—यह; मे—मेरा; वरः—वर।

हे भगवान्, मैं आपसे तादात्म्य के वर की इच्छा नहीं करता, क्योंकि इसमें आपके चरण-कमलों का अमृत रस नहीं है। मैं तो दस लाख कान प्राप्त करने का वर माँगता हूँ जिससे मैं आपके शुद्ध भक्तों के मुखारविन्दों से आपके चरण-कमलों की महिमा का गान सुन सकूँ।

तात्पर्य : पिछले श्लोक में महाराज पृथु ने भगवान् को कैवल्य-पति कहकर सम्बोधित किया है, किन्तु इसका अभिप्राय यह नहीं है कि वे कैवल्य चाह रहे थे। इसका स्पष्टीकरण इस श्लोक में हुआ है : “हे भगवान्! मैं ऐसा वर नहीं चाहता।” महाराज पृथु भगवान् की महिमा के श्रवण के लिए दस लाख कान चाहते थे। उन्होंने इसका विशेष उल्लेख किया है कि भगवान् की महिमा शुद्ध भक्तों के मुख से निकलनी चाहिए जो अपने अन्तस्तल से बोलते हैं। श्रीमद्भागवत के प्रारम्भ में (१.१.३) में कहा गया है—शुकमुखादमृतद्रवसंयुतम्—श्रीशुकदेव गोस्वामी के मुखारविन्द से निस्सृत होने के कारण श्रीमद्भागवत और अधिक सुस्वादु बन गया। हम यह सोच सकते हैं कि भगवान् की महिमा तो किसी

के भी मुख से, चाहे भक्त हो या अभक्त, निकल सकती है, किन्तु यहाँ पर विशेष रूप से उल्लिखित है कि भगवान् की महिमा शुद्ध भक्तों के हृदय से निकलनी चाहिए। श्रील सनातन गोस्वामी ने अभक्तों के मुख से भगवद्-महिमा सुनने की पूरी तरह से मनाही की है। *श्रीमद्भागवत* के अनेक व्यावसायिक कथावाचक हैं, जो अत्यन्त आलंकारिक ढंग से कथा कहते हैं, किन्तु शुद्ध भक्त उनके मुख से कथा सुनना पसन्द नहीं करते, क्योंकि ऐसा महिमा-वर्णन मात्र भौतिक ध्वनि का उच्चारण है। किन्तु जब यही महिमा शुद्ध भक्त के मुख से सुनी जाती है, तो भगवान् की महिमा का तुरन्त प्रभाव पड़ता है।

भागवत (३.२५.२५) में आये हुए *सतां प्रसंगान् मम वीर्यं संविदः* शब्दों का अर्थ है, जब शुद्ध भक्त भगवान् की महिमा का उच्चारण करता है, तो वह प्रभावशाली होती है। ब्रह्माण्ड में भगवान् के असंख्य भक्त हैं और वे अनन्तकाल से भगवान् की महिमा का वर्णन करते रहे हैं, किन्तु तो भी उसका कोई अन्त नहीं है। इसीलिए पृथु महाराज ने असंख्य कान माँगे जिस प्रकार कि रूप गोस्वामी ने भी भगवान् के गुणगान करने तथा सुनने के लिए लाखों जीभों तथा कानों की याचना की थी। दूसरे शब्दों में, यदि हमारे कान निरन्तर भगवान् की महिमा को सुनने में व्यस्त रहें तो उन्हें उस मायावादी दर्शन को सुनने का अवकाश ही नहीं मिल सकेगा जिसके कारण आध्यात्मिक उन्नति संकट में फँसी है। श्री चैतन्य महाप्रभु ने कहा है कि यदि कोई मनुष्य मायावादी चिन्तक से भगवान् के कार्य-कलापों के विषय में सुनता है, तो भले ही वह वैदिक साहित्य क्यों न हो, अन्ततः उसका विनाश हो जाता है। ऐसे मायावादी दर्शन को सुनकर आध्यात्मिक जीवन के परम उद्देश्य को प्राप्त नहीं किया जा सकता।

स उत्तमश्लोक महन्मुखच्युतो

भवत्पदाभोजसुधा कणानिलः ।

स्मृतिं पुनर्विस्मृततत्त्ववर्त्मनां

कुयोगिनां नो वितरत्यलं वरैः ॥ २५ ॥

शब्दार्थ

सः—वह; उत्तम-श्लोक—चुने हुए श्लोकों से प्रशंसित, हे भगवान्; महत्—महान् भक्तों के; मुख-च्युतः—मुख से निकली; भवत्—आपके; पद-अभोज—चरणकमलों से; सुधा—अमृत के; कण—छोट-छोटे खण्ड; अनिलः—सुखकर वायु; स्मृतिम्—स्मरण शक्ति; पुनः—फिर; विस्मृत—भूली हुई; तत्त्व—सत्य के प्रति; वर्त्मनाम्—ऐसे पुरुषों का जिनका पथ; कु-योगिनाम्—जो भक्ति में नहीं लगे, ऐसे पुरुषों का; नः—हम सबों का; वितरति—पुनः देता है; अलम्—वृथा; वरैः—अन्य वर।

हे भगवान्, महान् पुरुष आपका महिमा-गान उत्तम श्लोकों द्वारा करते हैं। आपके चरण-कमलों की प्रशंसा केसर कणों के समान है। जब महापुरुषों के मुखों से निकली दिव्य वाणी

आपके चरण-कमलों की केसर-धूलि की सुगन्ध का वहन करती है, तो विस्मृत जीवात्मा आपसे अपने सम्बन्ध को स्मरण करता है। इस प्रकार भक्त-गण क्रमशः जीवन के वास्तविक मूल्य को समझ पाते हैं। अतः हे भगवान्, मैं आपके शुद्ध भक्त के मुख से आपके विषय में सुनने का अवसर प्राप्त करने के अतिरिक्त किसी अन्य वर की कामना नहीं करता।

तात्पर्य : पिछले श्लोक में व्याख्या की जा चुकी है कि शुद्ध भक्त के मुख से ही भगवान् की महिमा सुननी चाहिए। इसकी और आगे व्याख्या यहाँ की जा रही है। शुद्ध भक्त की दिव्य वाणी इतनी शक्तिमान होती है कि उसमें जीवात्मा को भगवान् के साथ अपने शाश्वत सम्बन्ध का स्मरण हो आता है। इस जगत में माया के वशीभूत होने से हमने भगवान् के प्रति अपने सम्बन्ध का विस्मरण कर दिया है, जिस प्रकार कि प्रगाढ़ निद्रा में मनुष्य अपने कर्तव्यों को भूल जाता है। वेदों में कहा गया है कि हम सभी माया के प्रभाव के अन्तर्गत सोये हुए हैं। हमें इस नींद से जगना है और सही सेवा में तत्पर होना है, तभी हम इस मनुष्य-जीवन का समुचित लाभ उठा सकते हैं। ठाकुर भक्तिविनोद के एक गीत में आया है कि भगवान् चैतन्य कहते हैं— *जीव जाग, जीव जाग*। भगवान् प्रत्येक सुप्त जीवात्मा को जगने और भक्ति में लगने के लिए कहते हैं जिससे उसके इस जीवन के उद्देश्य की पूर्ति हो सके। यह उद्बोधन शुद्ध भक्त के मुख से निकलता है।

शुद्ध भक्त भगवान् के चरणारविन्द में शरण लेकर सदैव उनकी सेवा करता है, अतः वह भगवान् के चरणकमलों पर बिखरे केसर के कृपा-कणों के निरन्तर सम्पर्क में रहता है। यद्यपि जब शुद्ध भक्त बोलता है, तो उसकी वाणी इस भौतिक आकाश की ध्वनि से मेल खाती है, किन्तु आध्यात्मिक रूप से यह इतनी शक्तिशाली होती है कि यह भगवान् के चरणकमलों पर बिखरी केसर धूलि का स्पर्श करती है। ज्योंही सुप्त जीवात्मा शुद्ध भक्त के मुख से निकली शक्तिशाली वाणी को सुनता है उसे तत्क्षण भगवान् के साथ अपने शाश्वत सम्बन्ध का स्मरण हो आता है, यद्यपि उस क्षण तक वह सब कुछ भूला हुआ था।

अतः बद्धजीव के लिए यह महत्त्वपूर्ण है कि वह शुद्ध भक्त के मुख से श्रवण करे, क्योंकि वह सारी भौतिक इच्छाओं या प्राकृतिक गुणों के कल्मष से रहित होकर भगवान् के चरणों पर पूर्ण रूप से समर्पित रहता है। हम सभी *कुयोगी* हैं, क्योंकि हम भगवान् के प्रति नित्य दास के रूप में अपने

सम्बन्ध को भूलकर भौतिक जगत की सेवा में तल्लीन रहते हैं। हमारा यह कर्तव्य है कि हम *कुयोगी* बने हुए पद से उठकर *सुयोगी* बनें। शुद्ध भक्त से श्रवण विधि की संस्तुति समस्त वैदिक शास्त्रों में की गई है, किन्तु भगवान् चैतन्य महाप्रभु ने विशेष रूप से इसे कहा है। मनुष्य जिस स्थिति में है, चाहे वह जैसी भी हो, उसी में रहते हुए यदि वह शुद्ध भक्त के मुख से सुनता है, तो धीरे-धीरे वह भगवान् से अपने सम्बन्ध को समझता है और उनकी प्रेमाभक्ति करके जीवन को सफल बनाता है। अतः आध्यात्मिक ज्ञान की दिशा में उन्नति करने के लिए शुद्ध भक्त के मुख से श्रवण की विधि अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।

यशः शिवं सुश्रव आर्यसङ्गमे
 यदृच्छया चोपशृणोति ते सकृत् ।
 कथं गुणज्ञो विरमेद्विना पशुं
 श्रीर्यत्प्रवत्रे गुणसङ्ग्रहेच्छया ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

यशः—कीर्ति; शिवम्—कल्याणकारी, मंगलमय; सु-श्रवः—हे सुकीर्ति वाले भगवान्; आर्य-सङ्गमे—उच्च भक्तों की संगति में; यदृच्छया—जिस-तिस प्रकार, जैसे-तैसे; च—भी; उपशृणोति—सुनता है; ते—तुम्हारा; सकृत्—एक बार भी; कथम्—कैसे; गुण-ज्ञः—उत्तम गुणों की प्रशंसा करने वाला; विरमेत्—रुक सकता है; विना—जब तक; पशुम्—पशु; श्रीः—सम्पत्ति की देवी, लक्ष्मीजी; यत्—जो; प्रवत्रे—स्वीकृत; गुण—आपके गुण; सङ्ग्रह—प्राप्त करने की; इच्छया—इच्छा से।

हे अत्यन्त कीर्तिमय भगवान्, यदि कोई शुद्ध भक्तों की संगति में रहकर आपके कार्यकलापों की कीर्ति का एक बार भी श्रवण करता है, तो जब तक कि वह पशु तुल्य न हो, वह भक्तों की संगति नहीं छोड़ता, क्योंकि कोई भी बुद्धिमान पुरुष ऐसा करने की लापरवाही नहीं करेगा। आपकी महिमा के कीर्तन और श्रवण की पूर्णता तो धन की देवी लक्ष्मी जी द्वारा तक स्वीकार की गई थीं जो आपके अनन्त कार्यकलापों तथा दिव्य महिमा को सुनने की इच्छुक रहती थीं।

तात्पर्य : इस संसार में भक्तों की संगति (*आर्य संगम*) अत्यन्त महत्त्वपूर्ण बात है। *आर्य* शब्द का अर्थ है आध्यात्मिक दृष्टि से प्रगतिशील। मानव जाति के इतिहास में आर्य कुल को विश्व की अत्यन्त उन्नत जाति माना जाता है, क्योंकि उसने वैदिक सभ्यता ग्रहण की होती है। आर्य कुल सारे संसार में फैला हुआ है और भारतीय-आर्य कहलाता है। पुरा इतिहास काल में आर्य कुल के सभी सदस्य वैदिक नियमों का पालन करते थे जिसके कारण वे आध्यात्मिक दृष्टि से उन्नति कर सके। राजा राजर्षि

कहलाते थे, तो इस प्रकार से क्षत्रिय के रूप में अथवा जनता के रक्षकों की भाँति शिक्षित होते थे और आध्यात्मिक जीवन में इतने उन्नत थे कि नागरिकों को कोई कष्ट नहीं होता था।

आर्य कुल द्वारा भगवान् के कीर्तिमान की अत्यधिक बड़ाई की जाती है। यद्यपि अन्वियों के लिए कोई प्रतिबंध नहीं है, किन्तु आर्य वंश आध्यात्मिक जीवन के सार को जल्दी ग्रहण कर सकता है। तो फिर यूरुपियों तथा अमरीकियों में कृष्णचेतना को इतनी सरलता से क्यों फैलाया जा रहा है? इतिहास बताता है कि जब ये उपनिवेशवाद फैलाना चाह रहे थे तो इन्होंने अपना जौहर दिखाया, किन्तु आजकल भौतिक विज्ञान की उन्नति के कारण दूषित होने से उनके लड़के तथा नाती-पोते दुराचारी बन रहे हैं। इसका कारण है कि वे अपनी आदि आध्यात्मिक संस्कृति, जो कि वैदिक सभ्यता है, भूलते जा रहे हैं। इस समय आर्य कुल के ये वंशज कृष्णभावनामृत आन्दोलन को अत्यन्त गम्भीरता से अपना रहे हैं। अन्य लोग भी, जो शुद्ध भक्तों के मुख से हरे कृष्ण महामंत्र का जप सुनते तथा उनकी संगति करते हैं, दिव्य उच्चारण से मंत्रमुग्ध हो जाते हैं। ये दिव्य उच्चारण यदि आर्यों द्वारा किये जाते हैं, तो अत्यन्त प्रभावशाली होते हैं, किन्तु भले ही कोई आर्यकुल का न हो, वह महामंत्र को केवल सुनकर वैष्णव हो जाता है, क्योंकि उच्चारण का प्रत्येक व्यक्ति पर बड़ा प्रभाव पड़ता है।

महाराज पृथु इंगित करते हैं कि भगवान् नारायण की सतत संगिनी लक्ष्मीजी भगवान् की महिमा को विशेष रूप से सुनने की इच्छुक रहती थीं और उन्होंने शुद्ध भक्त गोपियों की संगति के लिए कठिन तपस्या की थी। मायावादी चिन्तक पूछ सकता है कि हरे कृष्ण महामंत्र का वर्षों तक निरन्तर जप क्यों किया जाये, क्यों न रुककर कैवल्य या मोक्ष या तादात्म्य का प्रयत्न किया जाय? इसके उत्तर में महाराज पृथु का दृढ़तापूर्वक कथन है कि इस जप का आकर्षण इतना अधिक होता है कि कोई पशु ही इस विधि को त्याग सकता है। यदि कोई संयोगवश भी इस दिव्य ध्वनि के सम्पर्क में आता है, तो भी ऐसा होता है। इस सम्बन्ध में पृथु महाराज अत्यन्त दृढ़ हैं—केवल पशु ही हरे कृष्ण जप का त्याग कर सकता है। जो पशु नहीं हैं वरन् वास्तव में बुद्धिमान, उन्नत, मानवीय, सभ्य पुरुष हैं, वे हरे कृष्ण, हरे कृष्ण, कृष्ण कृष्ण, हरे हरे, हरे राम, हरे राम, राम राम, हरे हरे महामंत्र का जप त्याग नहीं सकते।

अथाभजे त्वाखिलपूरुषोत्तमं

गुणालयं पद्मकरेव लालसः ।
 अप्यावयोरेकपतिस्पृधोः कलि-
 नं स्यात्कृतत्वच्चरणैकतानयोः ॥ २७ ॥

शब्दार्थ

अथ—अतः; आभजे—मैं भक्ति करूँगा; त्वा—तुम्हारे प्रति; अखिल—समस्त; पुरुष-उत्तमम्—पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान्; गुण-
 आलयम्—समस्त दिव्य गुणों के आगार; पद्म-करा—कमल धारण करने वाली लक्ष्मीजी; इव—सदृश; लालसः—इच्छुक;
 अपि—निस्सन्देह; आवयोः—लक्ष्मी का तथा मेरा; एक-पति—एक स्वामी, पतिव्रता; स्पृधोः—स्पर्धा करते हुए; कलिः—
 झगड़ा; न—नहीं; स्यात्—हो सकता है; कृत—किया हुआ; त्वत्-चरण—आपके चरणकमलों के प्रति; एक-तानयोः—
 एकाग्रता।

अब मैं भगवान् के चरणकमलों की सेवा में संलग्न रहना और कमलधारिणी लक्ष्मीजी के समान सेवा करना चाहता हूँ, क्योंकि भगवान् समस्त दिव्य गुणों के आगार हैं। मुझे भय है कि लक्ष्मीजी तथा मेरे बीच झगड़ा छिड़ जाएगा, क्योंकि हम दोनों एक ही सेवा में एकाग्र भाव से लगे होंगे।

तात्पर्य : यहाँ पर भगवान् को *अखिल पुरुषोत्तम* कहकर सम्बोधित किया गया है। *पुरुष* का अर्थ “भोक्ता” है और *उत्तम* का अर्थ “सर्वश्रेष्ठ।” संसार में अनेक प्रकार के भोक्ता हैं। सामान्य रूप से इन्हें तीन वर्गों में रखा जाता है—बद्ध, मुक्त तथा शाश्वत। वेदों में परमेश्वर को शाश्वतों का परम शाश्वत कहा गया है (*नित्यो नित्यानाम्*)। परमेश्वर तथा जीवात्मा दोनों ही नित्य हैं। परम नित्यों को *विष्णु तत्त्व* अर्थात् भगवान् विष्णु तथा उनके अंश कहा जाता है। अतः *नित्य* से भगवान् का, कृष्ण से लेकर महाविष्णु, नारायण तथा श्रीकृष्ण के अन्य विस्तारों का बोध होता है। जैसाकि *ब्रह्म-संहिता* में कहा गया है, (*रामादि मूर्तिषु*) भगवान् विष्णु के लाखों करोड़ों विस्तार हैं, जो राम, नृसिंह, वराह तथा अन्य अवतारों के रूप में हैं। वे सभी नित्य कहलाते हैं।

मुक्त शब्द से उन जीवात्माओं का बोध होता है, जो इस भौतिक संसार में कभी नहीं आते। बद्धजीव वे हैं, जो इस संसार में प्रायः शाश्वत रूप से रह रहे हैं। ये बद्धजीव भौतिक संसार में प्रकृति के तीन तापों से मुक्त होने और जीवन का आनन्द उठाने के लिए अत्यधिक संघर्ष करते रहते हैं, जबकि मुक्त पहले से ही मुक्त हुए रहते हैं। वे कभी इस भौतिक जगत में नहीं आते। भगवान् विष्णु इस भौतिक जगत के स्वामी हैं, अतः प्रकृति द्वारा उनके नियंत्रित होने का कोई प्रश्न ही नहीं उठता। फलतः भगवान् विष्णु को यहाँ पर *पुरुषोत्तम* अर्थात् *विष्णु तत्त्वों* तथा *जीव तत्त्वों* में सर्वश्रेष्ठ कहकर सम्बोधित किया गया है। अतः भगवान् विष्णु से *जीव तत्त्व* की तुलना या समता करना एक प्रकार का

अपराध है। मायावादी चिन्तक जीव तथा परमेश्वर को समान और एक मानते हैं, किन्तु भगवान् विष्णु के चरणकमलों के प्रति यह सबसे बड़ा अपराध है।

भौतिक जगत में हमारा व्यावहारिक अनुभव है कि निम्न वर्ग के पुरुष द्वारा श्रेष्ठ व्यक्ति की पूजा होती है। इसी प्रकार *पुरुषोत्तम* अर्थात् सबसे महान्, भगवान् कृष्ण या विष्णु की पूजा अन्यो द्वारा की जाती है। इसीलिए पृथु महाराज ने निश्चय किया कि वे भगवान् विष्णु के चरणकमलों की सेवा में लगे रहेंगे। पृथु महाराज को विष्णु का अवतार माना जाता है, किन्तु हैं, वे शक्त्यावेश अवतार कहलाते हैं। इस श्लोक का अन्य महत्त्वपूर्ण शब्द *गुणालयम्* है, जो विष्णु को समस्त दिव्य गुणों के आगार रूप में बताता है। मायावादी चिन्तक परम सत्य की दृष्टि से *निर्गुण*—गुणों से हीन—मानते हैं, किन्तु वास्तव में वे उत्तम गुणों के आगार हैं। भगवान् का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण गुण है भक्तों के प्रति वत्सल-भाव, जिसके कारण वे *भक्त-वत्सल* कहलाते हैं। भक्त सदा भगवान् के चरणों की सेवा करना चाहते हैं और भगवान् भी अपने भक्तों की प्रेमा-भक्ति स्वीकार करने के लिए उद्यत रहते हैं। इस सेवा-विनिमय में अनेक दिव्य कार्य होते हैं, जिन्हें दिव्य गुणात्मक कार्य कहते हैं। भगवान् के कुछ दिव्य गुण इस प्रकार हैं, वे सर्वज्ञाता हैं, सर्वत्र विद्यमान हैं, सर्वव्यापी हैं, सर्वशक्तिमान हैं, सब कारणों के कारण हैं, परम सत्य हैं, समस्त सुखों के आगार हैं, समस्त ज्ञान के सागर हैं, सर्वकल्याणकारी, इत्यादि हैं।

पृथु महाराज की इच्छा थी कि लक्ष्मीजी के साथ वे भी भगवान् की सेवा करें, किन्तु उनकी इस इच्छा का यह अर्थ नहीं होता कि वे *माधुर्यभाव* को प्राप्त थे। लक्ष्मीजी भगवान् की सेवा *माधुर्यभाव* से कर रही हैं। यद्यपि लक्ष्मीजी का स्थान भगवान् का वक्षस्थल है, किन्तु भक्त के रूप में वे भगवान् के चरणकमलों की सेवा करने में सुख मानती हैं। पृथु महाराज केवल भगवान् के चरणकमलों का ही ध्यान कर रहे थे, क्योंकि वे *दास्यभाव* के पद पर स्थित हैं। अगले श्लोक में बताया गया है कि पृथु महाराज लक्ष्मीजी को जगन्माता के रूप में देख रहे थे। फलतः *माधुर्यभाव* के पद पर उनके साथ उनके स्पर्धा करने का प्रश्न नहीं उठता। तो भी उन्हें भय था कि लक्ष्मी कहीं उन्हें भगवान् की सेवा में लगा देखकर इसे अपमान न समझ लें। इससे यह पता चलता है कि परम जगत में कभी-कभी भगवान् के दासों के बीच स्पर्धा चलती है, किन्तु वह द्वेषरहित होती है। यदि वैकुण्ठलोकों में कोई भक्त भगवान् की सेवा में आगे बढ़ जाता है, तो उसकी श्रेष्ठ सेवा से कोई ईर्ष्या नहीं करता, वरन् उस तक स्वयं

पहुँचने की आकांक्षा करता है।

जगज्जनन्यां जगदीश वैशसं

स्यादेव यत्कर्मणि नः समीहितम् ।

करोषि फल्ग्वप्युरु दीनवत्सलः

स्व एव धिष्येऽभिरतस्य किं तथा ॥ २८ ॥

शब्दार्थ

जगत्-जनन्याम्—विश्व की माता (लक्ष्मी) में; जगत्-ईश—हे विश्व के स्वामी; वैशसम्—क्रोध; स्यात्—हो सकता है; एव—निश्चय ही; यत्-कर्मणि—जिसके कार्य में; नः—मेरा; समीहितम्—आकांक्षा; करोषि—विचार करते हो; फल्गु—तुच्छ सेवा; अपि—यद्यपि; उरु—अत्यधिक; दीन-वत्सलः—दीनों के प्रति स्नेह करने वाले; स्वे—अपने; एव—निश्चय ही; धिष्ये—तुम्हारे ऐश्वर्य में; अभिरतस्य—परम सन्तुष्ट का; किम्—क्या आवश्यकता; तथा—उसके साथ।

हे जगदीश्वर, लक्ष्मीजी विश्व की माता हैं, तो भी मैं सोचता हूँ कि उनकी सेवा में हस्तक्षेप करने तथा उसी पद पर जिसके प्रति वे इतनी आसक्त हैं कार्य करने से, वे मुझसे क्रुद्ध हो सकती हैं। फिर भी मुझे आशा है कि इस भ्रम के होते हुए भी आप मेरा पक्ष लेंगे, क्योंकि आप दीनवत्सल हैं और भक्त की तुच्छ सेवाओं को भी बहुत करके मानते हैं। अतः यदि वे रुष्ट भी हो जाँय तो आपको कोई हानि नहीं होगी, क्योंकि आप आत्मनिर्भर हैं, अतः उनके बिना भी आपका काम चल सकता है।

तात्पर्य : माता लक्ष्मीजी भगवान् नारायण की नितान्त चरण-सेवा के लिए विख्यात हैं। वे आदर्श पत्नी हैं, क्योंकि वे हर प्रकार से भगवान् नारायण का ध्यान रखती हैं। वे न केवल उनके चरणकमलों का ध्यान रखती हैं, वरन् घर का सारा कार्य भी करती हैं—सुस्वादु भोजन पकाती हैं, भगवान् के भोजन के समय पंखा झलती हैं, उनके मुख पर चन्दन लेप करतीं तथा उनकी शय्या तथा आसन को व्यवस्थित करती हैं। इस प्रकार वे भगवान् की सेवा में निरन्तर लगी रहती हैं, जिसके कारण अन्य किसी भक्त को भगवान् के नित्य-कर्मों में हस्तक्षेप करने का अवसर ही नहीं प्राप्त हो पाता। अतः पृथु महाराज को लगभग विश्वास था कि लक्ष्मीजी की सेवा में हस्तक्षेप होने से वे चिढ़कर उन पर रुष्ट हो सकती हैं। किन्तु जगज्जननी लक्ष्मीजी पृथु महाराज जैसे तुच्छ भक्त पर क्योंकर क्रुद्ध होतीं? ऐसा सम्भव नहीं था। फिर भी पृथु महाराज अपने बचाव के लिए भगवान् से अपना पक्ष लेने की याचना करते हैं। पृथु महाराज सामान्य वैदिक अनुष्ठानों को करने तथा कर्मकाण्ड के अनुसार यज्ञ करने में लगे थे, किन्तु भगवान् अत्यन्त दयालु एवं उदार होने के कारण उन्हें जीवन का परम पद अर्थात् भक्ति प्रदान

करने के लिए उद्यत थे।

जब कोई व्यक्ति वैदिक अनुष्ठान तथा यज्ञ करता है, तो वह उच्चलोकों को जाने के उद्देश्य से ऐसा करता है, किन्तु ऐसे यज्ञों के द्वारा कोई भगवान् के धाम जाने का अधिकारी नहीं हो सकता। फिर भी भगवान् इतने उदार हैं कि किसी की तुच्छ से तुच्छ सेवा को भी स्वीकार कर लेते हैं। इसीलिए *विष्णु पुराण* में कहा गया है कि *वर्णाश्रम धर्म* के सिद्धान्तों का पालन करके परमेश्वर को प्रसन्न किया जा सकता है। भगवान् के प्रसन्न होने पर यज्ञकर्ता भक्तियोग के पद को प्राप्त होता है। अतः पृथु महाराज को आशा थी कि भगवान् उनकी छोटी सी सेवा को लक्ष्मीजी की सेवा से बढ़कर मान लेंगे। लक्ष्मीजी चञ्चला कही जाती हैं, क्योंकि वे एक स्थान पर स्थिर नहीं रहतीं, अतः पृथु महाराज ने संकेत किया कि यदि क्रोधवश वे अन्यत्र चली भी जाएं तो भगवान् विष्णु को कोई हानि नहीं पहुँचेगी, क्योंकि वे आत्मनिर्भर हैं और लक्ष्मीजी के बिना भी वे सब काम कर सकते हैं। उदाहरणार्थ, जब गर्भोदकशायी विष्णु ने अपनी नाभि से ब्रह्माजी को उत्पन्न किया, तो उन्होंने पास ही में स्थित चरण दबाती लक्ष्मीजी से कोई सहायता नहीं ली। सामान्य रूप से जब पुत्र उत्पन्न करना होता है, तो पत्नी पति से गर्भाधारण करती है और समय आने पर पुत्र जनती है। किन्तु ब्रह्माजी के जन्म में गर्भोदकशायी विष्णु से लक्ष्मी ने गर्भ धारण नहीं किया। आत्मनिर्भर होने के कारण भगवान् ने अपनी नाभि से ब्रह्माजी को उत्पन्न किया। अतः पृथु महाराज को विश्वास था कि यदि लक्ष्मी जी उनसे रुष्ट हो भी जाएं तो न तो भगवान् को और न उन्हें किसी प्रकार की क्षति की सम्भावना है।

भजन्त्यथ त्वामत एव साधवो

व्युदस्तमायागुणविभ्रमोदयम् ।

भवत्पदानुस्मरणादृते सतां

निमित्तमन्यद्भगवन्न विद्महे ॥ २९ ॥

शब्दार्थ

भजन्ति—पूजते हैं; अथ—अतः; त्वाम्—तुमको; अतः एव—अतः; साधवः—सभी साधु पुरुष; व्युदस्त—जो दूर करते हैं; माया-गुण—प्रकृति के गुण; विभ्रम—भ्रान्त विचार; उदयम्—उत्पन्न; भवत्—आपके; पद—चरणकमल; अनुस्मरणात्—निरन्तर स्मरण करने से; ऋते—सिवाय; सताम्—महान् पुरुषों का; निमित्तम्—कारण; अन्यत्—अन्य; भगवन्—हे भगवान्; न—नहीं; विद्महे—समझता हूँ।

बड़े-बड़े साधु पुरुष जो सदा ही मुक्त रहते हैं, आपकी भक्ति करते हैं, क्योंकि भक्ति के द्वारा ही इस संसार के मोहों से छुटकारा पाया जा सकता है। हे भगवन्, मुक्त जीवों द्वारा आपके

चरणकमलों की शरण ग्रहण करने का एकमात्र कारण यही हो सकता है कि ऐसे जीव आपके चरणकमलों का निरन्तर ध्यान धरते हैं।

तात्पर्य : कर्मी लोग प्रायः दैहिक सुखों के लिए सकाम कर्म करते हैं, किन्तु ज्ञानी भौतिक सुखों की खोज में रुचि नहीं दिखाते। वे समझते हैं कि आत्मा होने के कारण उन्हें इस भौतिक जगत से कुछ भी लेना देना नहीं। आत्म-साक्षात्कार के पश्चात् परिपक्व बुद्धि वाले ज्ञानी भगवान् के चरणकमलों में समर्पित हो जाना चाहिए जैसाकि *भगवद्गीता* में कहा गया है— *बहूनां जन्मनामन्ते*—आत्म-साक्षात्कार तब तक पूर्ण नहीं होता, जब तक भक्त-पद को प्राप्त न हुआ जाये। अतः *भागवत* में कहा गया है कि जो *आत्माराम* हैं, वे प्रकृति के गुणों के समस्त संदूषणों से मुक्त होते हैं। जब तक मनुष्य प्रकृति के गुणों द्वारा, विशेष रूप से रज तथा तम गुणों के द्वारा, प्रभावित रहता है तब तक वह लोभी तथा कामी बना रहता है, अतः वह कठिन परिश्रम में लगा रहकर अहर्निश कार्य करता है। ऐसे अहंकार से वह लगातार एक योनि से दूसरी में घूमता रहता है और उसे किसी भी योनि में चैन नहीं मिलता। ज्ञानी इस तथ्य को जानता है, अतः वह कार्य करना बन्द करके कर्म-संन्यास ग्रहण कर लेता है।

तो भी यह वास्तविक सन्तोष का पद नहीं है। आत्म-साक्षात्कार के पश्चात् ज्ञानी की भौतिक बुद्धि उसे भगवान् के चरणकमलों की शरण ग्रहण करने की ओर ले जाती है। तब वह निरन्तर भगवान् के चरणकमलों के ध्यान में मग्न रहने लगता है। अतः पृथु महाराज ने यह निष्कर्ष निकाला कि जिन मुक्त व्यक्तियों ने भक्ति-पथ ग्रहण कर लिया है, उन्हें जीवन का परम लक्ष्य प्राप्त हो चुका है। यदि मुक्ति ही अपने आप में अन्त होती तो मुक्त व्यक्ति द्वारा भक्ति ग्रहण किये जाने की आवश्यकता न पड़ती। दूसरे शब्दों में, भगवान् के चरणकमलों की भक्ति से प्राप्त होने वाला आनन्द आत्म-साक्षात्कार से प्राप्त दिव्य आनन्द अर्थात् *आत्मानन्द* से कहीं बढ़कर है। अतः पृथु महाराज ने निश्चय किया कि वे केवल भगवान् की महिमा का श्रवण करेंगे और इस प्रकार भगवान् के चरणकमलों में अपने मन को लगाएँगे। यही जीवन की चरम सिद्धि है।

मन्ये गिरं ते जगतां विमोहिनीं

वरं वृणीष्वेति भजन्तमात्थ यत् ।

वाचा नु तन्त्या यदि ते जनोऽसितः

कथं पुनः कर्म करोति मोहितः ॥ ३० ॥

शब्दार्थ

मन्ये—मानता हूँ; गिरम्—वाणी; ते—तुम्हारी; जगताम्—भौतिक जगत के प्रति; विमोहिनीम्—मोहने वाली; वरम्—वर; वृणीष्व—स्वीकार करो (माँगो); इति—इस प्रकार; भजन्तम्—आपके भक्तों को; आत्थ—आपने कहा; यत्—क्योंकि; वाचा—वेदों के कथन से; नु—निश्चय ही; तन्त्या—रस्सियों से; यदि—यदि; ते—तुम्हारे; जनः—सामान्य लोग; असितः—बंधे हुए नहीं; कथम्—कैसे; पुनः—फिर-फिर; कर्म—सकाम कर्म; करोति—करते हैं; मोहितः—मोहित होकर।

हे भगवन्, आपने अपने विशुद्ध भक्त से जो कुछ कहा है, वह निश्चय ही अत्यन्त मोह में डालने वाला है। आपने वेदों में जो लालच दिये हैं, वे शुद्ध भक्तों के लिए उपयुक्त नहीं हैं। सामान्य लोग वेदों की अमृतवाणी से बंधकर कर्मफल से मोहित होकर पुनः पुनः सकाम कर्मों में लगे रहते हैं।

तात्पर्य : गौड़ीय संप्रदाय के महान् आचार्य श्रील नरोत्तम दास ठाकुर ने कहा है कि जो लोग वेदों के सकाम कर्मों के प्रति अर्थात् कर्मकाण्ड तथा ज्ञानकाण्ड के प्रति अत्यधिक आसक्त हैं, समझो कि उनका सर्वनाश हो चुका है। वेदों में तीन प्रकार के कर्म बताये गये हैं—कर्मकाण्ड, ज्ञानकाण्ड तथा उपासनाकाण्ड। जो लोग कर्मकाण्ड तथा ज्ञानकाण्ड में रत हैं उनका सर्वनाश इस अर्थ में हो चुका है, क्योंकि जो भी इस भौतिक देह में बन्दी है, चाहे वह देवता हो राजा या निम्न पशु हो, सभी का विनाश होना है। प्रकृति के ताप-त्रय सबों के लिए हैं। अपनी आत्म-स्थिति को समझने के लिए ज्ञान का अनुशीलन भी कुछ हद तक समय का अपव्यय है। चूँकि जीवात्मा परमेश्वर का अंश है, अतः उसको चाहिए कि तुरन्त भक्ति में लग जाये। इसीलिए पृथु महाराज कहते हैं कि भौतिक वरों का लालच इस भौतिक जगत के बन्धन का दूसरा जाल है। अतः वे भगवान् से स्पष्ट कह देते हैं कि भौतिक सुविधाओं के रूप में उनके द्वारा प्रदान किये जाने वाले वर निश्चय ही मोह के कारण हैं। शुद्ध भक्त को कभी भी भुक्ति या मुक्ति में रुचि नहीं रहती।

भगवान् कभी-कभी नवदीक्षित भक्तों को वर देते हैं, जिन्हें इसका ज्ञान नहीं हुआ रहता कि ये भौतिक सुविधाएँ उन्हें सुखी नहीं बना सकतीं। अतः चैतन्य चरितामृत में भगवान् का कथन है कि अल्पज्ञ किन्तु निष्ठावान् भक्त ही भगवान् से किसी लाभ की याचना कर सकता है, किन्तु भगवान् सर्वज्ञ होने के कारण सामान्यतः भौतिक वर नहीं देते, अपितु अपने भक्त के द्वारा भोग्य सारी सुविधाएँ हर लेते हैं, जिससे भक्त को अन्ततः पूर्ण रूप से समर्पण करना पड़ता है। दूसरे शब्दों में, भक्त के लिए भौतिक लाभ का वरदान कभी शुभ नहीं होता। वेदों के ये कथन कि बड़े-बड़े यज्ञ करने के प्रतिफल

स्वरूप स्वर्गलोक की प्राप्ति होती है, मात्र भ्रामक हैं। अतः भगवद्गीता (२.४२) में भगवान् कहते हैं—*यामिमां पुष्पितां वाचं प्रवदन्त्यविपश्चितः।* अल्पज्ञ वर्ग के मनुष्य (अविपश्चितः) ही वेदों की सुधामयी वाणी से आकृष्ट होकर भौतिक लाभ की आकांक्षा से सकाम कर्म में प्रवृत्त होते हैं। इस प्रकार वे जन्म-जन्मांतर विभिन्न योनियों में भटकते रहते हैं।

त्वन्माययाद्वा जन ईश खण्डितो

यदन्यदाशास्त ऋतात्मनोऽबुधः ।

यथा चरेद्बालहितं पिता स्वयं

तथा त्वमेवार्हसि नः समीहितुम् ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ

त्वत्—तुम्हारी; मायया—माया द्वारा; अद्वा—निश्चय ही; जनः—सामान्यजन; ईश—हे भगवान्; खण्डितः—विभक्त; यत्—क्योंकि; अन्यत्—अन्य; आशास्ते—कामना करते हैं; ऋत—वास्तविक; आत्मनः—अपने से; अबुधः—बिना जाने; यथा—जिस प्रकार; चरेत्—प्रवृत्त होता है; बाल-हितम्—अपने बालक का कल्याण; पिता—पिता; स्वयम्—स्वतः; तथा—उसी प्रकार; त्वम्—आप; एव—निश्चय ही; अर्हसि नः समीहितुम्—मेरे हित में करें।

हे भगवान्, आपकी माया के कारण इस भौतिक जगत के सभी प्राणी अपनी वास्तविक स्वाभाविक स्थिति भूल गये हैं और वे अज्ञानवश समाज, मित्रता तथा प्रेम के रूप में निरन्तर भौतिक सुख की कामना करते हैं। अतः आप मुझे किसी प्रकार का भौतिक लाभ माँगने के लिए न कहें, बल्कि जिस प्रकार पिता अपने पुत्र द्वारा माँगने की प्रतीक्षा किये बिना उसके कल्याण के लिए सब कुछ करता है, उसी प्रकार से आप भी जो मेरे हित में हो मुझे प्रदान करें।

तात्पर्य : पुत्र का कर्तव्य है कि वह बिना कुछ माँगे अपने पिता पर आश्रित रहे। सुपुत्र को विश्वास होता है कि पिता अच्छे से जानता है कि पुत्र को कैसे लाभ पहुँचाया जाए। इसी प्रकार शुद्ध भक्त भगवान् से किसी प्रकार के लाभ की याचना नहीं करता, न ही आध्यात्मिक लाभ के लिए कुछ माँगता है। शुद्ध भक्त तो भगवान् के चरणों में पूर्ण रूप से समर्पित रहता है और भगवान् उसका भार ग्रहण करते हैं जैसाकि भगवद्गीता (१८.६६) में कहा गया है : *अहं त्वां सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि।* पिता पुत्र की आवश्यकताओं से परिचित होता है और उनकी पूर्ति करता है। परमेश्वर भी जीवात्माओं की आवश्यकताओं से अनजान रहते हैं और प्रचूर मात्रा में उनकी पूर्ति करते रहते हैं। इसीलिए ईशोपनिषद् का कथन है कि इस संसार में सभी कुछ पूर्ण है (पूर्णम् इदम्)। कठिनाई यह है कि जीवात्मा विस्मरण के कारण वृथा की आवश्यकताएँ उत्पन्न करता है और अपने आपको भौतिक कर्मों में बाँध

देता है। परिणाम यह होता है कि जन्म-जन्मांतर कर्मों का अन्त नहीं मिल पाता।

हमारे समक्ष नाना प्रकार की जीवात्माएँ हैं और इनमें से प्रत्येक देहान्तर तथा कर्म में फँसी हुई है। हमारा एकमात्र कर्तव्य है कि हम भगवान् की शरण ग्रहण करें और उन्हें सारा भार सँभालने दें, क्योंकि जो हमारे लिए शुभ है, उससे वे परिचित हैं।

अतः पृथु महाराज भगवान् से कहते हैं कि परम पिता के रूप में जो कुछ पृथु के लिए लाभप्रद हो वही वर दें। जीवात्मा की यही सही स्थिति है। इसीलिए श्री चैतन्य महाप्रभु अपने शिक्षाष्टक में हमें उपदेश देते हैं—

न धनं न जनं न सुन्दरीं कवितां वा जगदीश कामये।

मम जन्मनि जन्मनीश्वरे भवताद्भक्तिरहेतुकी त्वयि ॥

“हे परम शक्तिमान भगवान्! मैं न तो धन संग्रह करना चाहता हूँ, न मुझे सुन्दर स्त्री का भोग करने की इच्छा है और न मुझे अनेक अनुयायी चाहिए। मुझे तो जन्म-जन्मांतर आपकी अहेतुकी भक्ति चाहिए।”

निष्कर्ष यह निकला कि शुद्ध भक्त को न तो भक्ति से किसी प्रकार के भौतिक लाभ की कामना करनी चाहिए और न सकाम कर्म या दार्शनिक चिन्तन के द्वारा मोहग्रस्त होना चाहिए। उसे निरन्तर भगवान् की सेवा में लगे रहना चाहिए। यही जीवन की चरम सिद्धि है।

मैत्रेय उवाच

इत्यादिराजेन नुतः स विश्वदृक्

तमाह राजन्मयि भक्तिरस्तु ते ।

दिष्ट्येदृशी धीर्मयि ते कृता यया

मायां मदीयां तरति स्म दुस्त्यजाम् ॥ ३२ ॥

शब्दार्थ

मैत्रेयः उवाच—मैत्रेय ने कहा; इति—इस प्रकार; आदि-राजेन—आदि राजा (पृथु) द्वारा; नुतः—पूजित होकर; सः—वह (भगवान्); विश्व-दृक्—सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को देखने वाला; तम्—उससे; आह—कहा; राजन्—हे राजा; मयि—मुझमें; भक्तिः—भक्ति; अस्तु—ऐसा ही हो; ते—तुम्हारा; दिष्ट्या—सौभाग्य से; ईदृशी—इस प्रकार की; धीः—बुद्धि; मयि—मुझमें; ते—तुम्हारे द्वारा; कृता—किया जाकर; यया—जिससे; मायाम्—माया को; मदीयाम्—मेरा; तरति—पार करता है; स्म—निश्चय ही; दुस्त्यजाम्—त्यागने में कठिन।

मैत्रेय ऋषि ने आगे कहा कि पृथु महाराज की प्रार्थना सुनकर ब्रह्माण्ड के साक्षी भगवान् ने राजा को इस प्रकार सम्बोधित किया: हे राजन्, तुम्हारी मुझमें निरन्तर भक्ति बनी रहे। ऐसे शुद्ध

उद्देश्य से, जिसे तुमने बुद्धिमत्तापूर्वक व्यक्त किया है, दुर्लभ माया को पार किया जा सकता है।

तात्पर्य : *भगवद्गीता* में भी इसकी पुष्टि भगवान् ने की है कि माया दुर्लभ है। कोई भी कर्म, ज्ञान या योग द्वारा माया से पार नहीं पा सकता। इससे पार पाने का एकमात्र साधन भक्ति है जैसाकि *भगवद्गीता* (७.१४) में भगवान् ने स्वयं कहा है— *मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते*। यदि कोई भवसागर को पार करना चाहता है, तो भक्ति के अतिरिक्त कोई दूसरा विकल्प नहीं है। अतः भक्त चाहे स्वर्ग में रहे या नरक में, उसे कभी भी किसी भौतिक पद की इच्छा नहीं करनी चाहिए। शुद्ध भक्त को सदैव भगवान् की सेवा में संलग्न रहना चाहिए, क्योंकि वही उसकी वास्तविक वृत्ति है। इसी स्थिति में पाँव जमाकर प्रकृति के कठोर नियमों पर विजय पाई जा सकती है।

तत्त्वं कुरु मयादिष्टमप्रमत्तः प्रजापते ।

मदादेशकरो लोकः सर्वत्राप्नोति शोभनम् ॥ ३३ ॥

शब्दार्थ

तत्—अतः; त्वम्—तुम; कुरु—करो; मया—मेरे द्वारा; आदिष्टम्—आज्ञा; अप्रमत्तः—दिग्भ्रमित हुए बिना; प्रजा-पते—हे प्रजा के स्वामी; मत्—मेरा; आदेश-करः—आज्ञा पालन करने वाला; लोकः—कोई व्यक्ति; सर्वत्र—सभी जगह; आप्नोति—प्राप्त करता है; शोभनम्—मङ्गल।

हे प्रजा के पालक राजा, अब से मेरी आज्ञा का पालन करने में सावधानी बरतना और किसी भी प्रकार दिग्भ्रमित मत होना। जो भी श्रद्धापूर्वक इस प्रकार मेरी आज्ञा का पालन करता है उसका सर्वत्र मंगल होता है।

तात्पर्य : धार्मिक जीवन का सार है भगवान् के आदेशों का पालन करना और जो ऐसा करता है, वह पूर्ण रूप से धार्मिक है। *भगवद्गीता* (१८.६५) में भगवान् कहते हैं— *मन्मना भव मद्भक्तः—* “सदैव मेरा ही चिन्तन करो और मेरे भक्त बनो।” वे आगे भी कहते हैं (*भगवद्गीता* १८.६६)— *सर्व धर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं ब्रज—* “सभी प्रकार की भौतिक व्यस्तताओं को त्याग कर मेरे शरणागत होओ।” यही धर्म का मूल नियम है। जो कोई भी भगवान् के ऐसे आदेश का पालन करता है, वह वास्तव में धार्मिक पुरुष है। अन्य सबों को वंचक कहा गया है, क्योंकि धर्म के नाम पर न जाने कितने प्रकार के कार्य दुनिया भर में चल रहे हैं, जो वास्तव में धार्मिक नहीं हैं। किन्तु जो भगवान् की आज्ञा का पालन करता है उसका सर्वत्र मंगल ही होता है।

मैत्रेय उवाच

इति वैन्वस्य राजर्षेः प्रतिनन्द्यार्थवद्वचः ।

पूजितोऽनुगृहीत्वैनं गन्तुं चक्रेऽच्युतो मतिम् ॥ ३४ ॥

शब्दार्थ

मैत्रेयः उवाच—मैत्रेय ने कहा; इति—इस प्रकार; वैन्वस्य—राजा वेन के पुत्र (पृथु महाराज) का; राज-ऋषेः—राजर्षि का; प्रतिनन्द्य—आदर करके; अर्थ-वत् वचः—सारगर्भित प्रार्थना; पूजितः—पूजित होकर; अनुगृहीत्वा—अनुग्रह जता कर; एनम्—राजा पृथु; गन्तुम्—उस स्थान से जाने के लिए; चक्रे—निश्चय किया; अच्युतः—भूल न करने वाले, अर्थात् अचूक भगवान्; मतिम्—मन।

मैत्रेय वे विदुर से कहा कि भगवान् ने महाराज पृथु द्वारा की गई सारगर्भित प्रार्थना की भूरि-भूरि प्रशंसा की। इस प्रकार राजा द्वारा समुचित रूप से पूजित होकर भगवान् ने उन्हें आशीर्वाद दिया और प्रस्थान का निश्चय किया।

तात्पर्य : इस श्लोक के सबसे महत्त्वपूर्ण शब्द प्रतिनन्द्यार्थवद्वचः हैं। जिनका अर्थ है कि भगवान् ने राजा द्वारा की गई सार्थक प्रार्थना की प्रशंसा की। जब भक्त भगवान् से प्रार्थना करता है, तो वह भौतिक लाभ की याचना न करके उनकी कृपा माँगता है; वह प्रार्थना करता है कि जन्म-जन्मांतर वह भगवान् के चरणकमलों की सेवा करता रहे। इसीलिए भगवान् चैतन्य ने मम जन्मनि जन्मनि शब्दों का प्रयोग किया है जिनका अर्थ “जन्म-जन्मांतर” है, क्योंकि भक्त यह भी नहीं चाहता कि जन्म का चक्र रुके। भगवान् तथा भक्त इस जगत में एक जन्म के बाद दूसरे जन्म में प्रकट होते रहते हैं, किन्तु ऐसे जन्म दिव्य होते हैं। भगवद्गीता के चतुर्थ अध्याय में भगवान् ने अर्जुन को बताया कि उनके तथा अर्जुन दोनों ही के इसके पूर्व अनेक जन्म हो चुके हैं। भगवान् को तो इन जन्मों का स्मरण है, किन्तु अर्जुन इन्हें भूल चुका है। भगवान् तथा उनके विश्वासपात्र भक्त भगवान् के सन्देश को पूरा करने के उद्देश्य से कई बार प्रकट हो सकते हैं, किन्तु ऐसे जन्म दिव्य होते हैं क्योंकि इनमें भौतिक जन्म सरीखी कष्टमय स्थितियाँ नहीं आतीं, अतः वे दिव्य कहलाते हैं।

मनुष्य को भगवान् तथा भक्त के दिव्य जन्म के विषय में जानना चाहिए। भगवान् द्वारा जन्म ग्रहण करने का उद्देश्य भक्ति की स्थापना करना होता है, जो धर्म की पूर्ण पद्धति है और भक्त का जन्म भक्ति सम्प्रदाय को सारे विश्व में प्रचारित करने के लिए होता है। पृथु महाराज भक्ति सम्प्रदाय को प्रसारित करने के लिए भगवान् की शक्ति के अवतार थे और भगवान् ने उन्हें इसी पद पर बने रहने का वर दिया। अतः जब राजा ने किसी प्रकार का भौतिक वर प्राप्त करना अस्वीकार कर दिया तो भगवान् इससे अत्यधिक प्रसन्न हुए। इस श्लोक का अन्य महत्त्वपूर्ण शब्द अच्युत है, जिसका अर्थ है अमोघ या

अचूक। यद्यपि भगवान् इस जगत में प्रकट होते हैं, किन्तु उन्हें बद्धजीव कभी नहीं माना जाता, जो पतनशील हैं। जब भगवान् प्रकट होते हैं, तो वे प्रकृति के गुणों से अप्रभावित रहकर अपनी दिव्य स्थिति में रहते हैं। इसीलिए *भगवद्गीता* में अपने प्राकट्य के गुण को *आत्म-मायया* अर्थात् अन्तरंगा शक्ति से सम्पन्न मानते हैं। भगवान् अच्युत होने के कारण इस भौतिक जगत में जन्म लेने के लिए भौतिक प्रकृति द्वारा बाध्य नहीं किए जाते हैं। वे तो धर्म की संस्थापना करने तथा मानव-समाज में आसुरी प्रभाव को नष्ट करने के लिए अवतरित होते हैं।

देवर्षिपितृगन्धर्वसिद्धचारणपन्नगाः ।

किन्नराप्सरसो मर्त्याः खगा भूतान्यनेकशः ॥ ३५ ॥

यज्ञेश्वरधिया राज्ञा वाग्वित्ताञ्जलिभक्तितः ।

सभाजिता ययुः सर्वे वैकुण्ठानुगतास्ततः ॥ ३६ ॥

शब्दार्थ

देव—देवता; ऋषि—ऋषिगण; पितृ—पितृलोक के वासी; गन्धर्व—गन्धर्व लोक के वासी; सिद्ध—सिद्धलोक के वासी; चारण—चारणलोक के वासी; पन्नगाः—सर्पलोक के वासी; किन्नर—किन्नरलोक के वासी; अप्सरसः—अप्सरा लोक के वासी; मर्त्याः—पृथ्वी के वासी; खगाः—पक्षी; भूतानि—अन्य जीवात्माएँ; अनेकशः—अनेक; यज्ञ-ईश्वर-धिया—अपने को परमेश्वर का अंश मानने वाली बुद्धि से; राज्ञा—राजा द्वारा; वाक्—मधुर शब्दों से; वित्त—सम्पत्ति; अञ्जलि—करबद्ध; भक्तितः—भक्तिभाव से; सभाजिताः—भलीभाँति पूजित; ययुः—चले गये; सर्वे—सभी; वैकुण्ठ—भगवान् विष्णु के; अनुगताः—अनुचर; ततः—वहाँ से।

राजा पृथु ने देवताओं, ऋषियों, पितृलोक, गन्धर्वलोक, सिद्धलोक, चारणलोक, पन्नगलोक, किन्नरलोक, अप्सरो लोक तथा पृथ्वीलोक और पक्षियों के लोक के वासियों की पूजा की। उन्होंने यज्ञस्थल पर उपस्थित अन्य अनेक जीवों की पूजा की। उन्होंने इन सबकी तथा भगवान् के पार्षदों की मधुर वचन तथा यथासम्भव धन के द्वारा, हाथ जोड़कर पूजा की। इस उत्सव के बाद भगवान् विष्णु के पदचिह्नों का अनुसरण करते हुए वे सभी अपने-अपने लोकों को चले गये।

तात्पर्य : आधुनिक तथाकथित वैज्ञानिक समाज में यह विचार प्रचलित है कि अन्य लोकों में जीवन नहीं है, केवल पृथ्वीलोक में ही बुद्धि तथा वैज्ञानिक ज्ञान वाले प्राणी विद्यमान हैं। किन्तु वैदिक साहित्य इस मूर्खतापूर्ण सिद्धान्त को नहीं मानता। वैदिक ज्ञान के मानने वाले भली-भाँति परिचित हैं कि विविध लोकों में नाना प्रकार के जीव यथा देवता, ऋषि, पितृगण, गन्धर्व, पन्नग, किन्नर, चारण, सिद्ध तथा अप्सराएँ वास करते हैं। वेद बताते हैं कि सभी लोकों में—इसी आकाश में—ही नहीं, वरन्

आध्यात्मिक आकाश में भी नाना प्रकार के जीव वास करते हैं। यद्यपि ये सारे जीव एक ही दिव्य प्रकृतिवाले और भगवान् के ही समान भौतिक गुण वाले हैं, किन्तु वे आठ तत्त्वों क्षिति, जल, पावक, गगन, समीर, मन, बुद्धि एवं अहंकार के संयोग के फलस्वरूप विविध शरीर धारण करते हैं। किन्तु आध्यात्मिक लोक में देह और देही में ऐसा कोई भेद नहीं होता। भौतिक संसार में विभिन्न लोकों में विभिन्न शरीरधारियों में उनके विशिष्ट रूपों और आकारों से भेद प्रकट होते हैं। हमें वैदिक साहित्य से यह भली-भाँति ज्ञात होता है कि भौतिक तथा आध्यात्मिक (परा) दोनों ही प्रकार के लोकों में भिन्न-भिन्न बुद्धि वाले जीव हैं। पृथ्वी भूलोक का एक ग्रह है। भूलोक के ऊपर छह अन्य लोक हैं और इसी तरह इसके नीचे भी सात लोक हैं। अतः यह समस्त ब्रह्माण्ड चतुर्दशभुवन कहलाता है, जिससे सूचित होता है कि चौदह विभिन्न लोक हैं। भौतिक आकाश से परे एक दूसरा आकाश है, जिसे परव्योम या आध्यात्मिक आकाश कहते हैं, जहाँ आध्यात्मिक (चिन्मय) लोक हैं। इन लोकों के वासी भगवान् की नाना प्रकार से प्रेमाभक्ति करते हैं जिनमें विभिन्न भाव सम्मिलित हैं यथा—*दास्य भाव, सख्य भाव, वात्सल्य भाव, माधुर्य भाव* तथा इन सबसे ऊपर *परकीय भाव*। *परकीय भाव* कृष्ण के वास स्थान कृष्णलोक में प्रचलित है। यह लोक गोलोक वृन्दावन भी कहलाता है तथा, यद्यपि भगवान् श्रीकृष्ण वहाँ निरन्तर वास करते हैं तो भी वे लाखों करोड़ों रूपों में अपना विस्तार करते हैं। अपने इन्हीं एक रूप में वे इस धरा के विशेष स्थान, वृन्दावन धाम में प्रकट होते हैं जहाँ वे परव्योम स्थित गोलोक वृन्दावन धाम की मूल लीलाएँ करके बद्धजीवों को भगवान् के धाम जाने के लिए आकृष्ट करते हैं।

भगवानपि राजर्षेः सोपाध्यायस्य चाच्युतः ।

हरन्निव मनोऽमुष्य स्वधाम प्रत्यपद्यत ॥ ३७ ॥

शब्दार्थ

भगवान्—भगवान्; अपि—भी; राज-ऋषेः—राजर्षि का; स-उपाध्यायस्य—अन्य समस्त पुरोहितों सहित; च—भी; अच्युतः—अचूक भगवान्; हरन्—मोहते हुए; इव—निस्सन्देह; मनः—मन; अमुष्य—उसका; स्व-धाम—अपने धाम को; प्रत्यपद्यत—लौट गये।

राजा तथा वहाँ पर उपस्थित पुरोहितों के मनों को मोहित करने के बाद अच्युत भगवान् परव्योम में अपने धाम वापस चले गये।

तात्पर्य : चूँकि भगवान् सर्व-आत्ममय हैं, अतः वे अपना शरीर बदले बिना परव्योम से नीचे आ सकते हैं, इसीलिए वे *अच्युत* अथवा *अचूक* कहलाते हैं। जब जीवात्मा इस संसार में आ गिरता है, तो

उसे भौतिक शरीर धारण करना होता है और वह भौतिक शरीर-रूप में *अच्युत* नहीं कहला सकता। चूँकि वह भगवान् की सेवा-कार्य के पद से नीचे पतित होता है, अतः जीव भौतिक जीवन की बद्ध अवस्थाओं में दुख भोगने के लिए अथवा उसका आनंद उठाने के प्रयास में भौतिक शरीर ग्रहण करता है। अतः पतित जीवात्मा *च्युत* है और भगवान् *अच्युत* कहलाते हैं। भगवान् सबों के लिए मनमोहक थे—केवल राजा ही के लिए नहीं, अपितु उन पुरोहितों के लिए भी जो वैदिक कर्मकाण्डों के अत्यधिक आदी थे। सर्व-मोहक होने के कारण भगवान् को कृष्ण अर्थात् “सबको आकृष्ट करने वाले” कहा जाता है। महाराज पृथु के यज्ञस्थल में भगवान् क्षीरोदकशायी विष्णु के रूप में प्रकट हुए जो भगवान् श्रीकृष्ण के स्वांश हैं। वे कारणोदकशायी विष्णु के द्वितीय अवतार हैं, जो भौतिक सृष्टि के मूल हैं और गर्भोदकशायी विष्णु के रूप में विस्तार करके प्रत्येक ब्रह्माण्ड में प्रवेश करते हैं। क्षीरोदकशायी विष्णु उन पुरुषों में से एक हैं, जो प्रकृति के भौतिक गुणों को अपने वश में रखते हैं।

अदृष्टाय नमस्कृत्य नृपः सन्दर्शितात्मने ।

अव्यक्ताय च देवानां देवाय स्वपुरं ययौ ॥ ३८ ॥

शब्दार्थ

अदृष्टाय—जो दृष्टि से नहीं देखा जा सकता है उसको; नमः—कृत्य—नमस्कार करके; नृपः—राजा; सन्दर्शित—अभिव्यक्त, प्रकट; आत्मने—परमात्मा को; अव्यक्ताय—जो भौतिक जगत में प्रकट न हो सके; च—भी; देवानाम्—देवताओं के; देवाय—परमेश्वर को; स्व-पुरम्—अपने घर को; ययौ—लौट गये।

तत्पश्चात् राजा पृथु ने समस्त देवों के परम स्वामी भगवान् को सादर नमस्कार किया। यद्यपि वे भौतिक दृष्टि से देखे जाने की वस्तु नहीं हैं, फिर भी भगवान् ने महाराज पृथु के नेत्रों के समक्ष अपने को प्रकट किया। भगवान् को नमस्कार करके राजा अपने घर चले आये।

तात्पर्य : परमेश्वर भौतिक आँखों से दिखाई नहीं पड़ते, किन्तु जब भौतिक इन्द्रियाँ भगवान् की दिव्य प्रेमाभक्ति में लगी होती हैं और इस प्रकार पवित्र हो जाती हैं, तो भगवान् स्वतः भक्त के समक्ष अपने को प्रकट करते हैं। *अव्यक्त* का अर्थ है “अप्रकट।” यद्यपि यह संसार भगवान् की ही सृष्टि है, किन्तु वह आँखों से नहीं दिखाई पड़ते। किन्तु महाराज पृथु ने अपनी शुद्ध भक्ति से आत्म-दृष्टि विकसित कर ली थी। अतः यहाँ पर ईश्वर को *सन्दर्शितात्मा* कहा गया है, क्योंकि सामान्य नेत्रों से अदृश्य रह कर भी वे भक्त को दृष्टिगोचर होते हैं।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के चतुर्थ स्कन्ध के अन्तर्गत “महाराज पृथु के यज्ञस्थल में भगवान् विष्णु का प्राकट्य” नामक बीसवें अध्याय के भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुये